जैन धर्म

–एक झलक

लेखक :
डॉ० अनेकांत कुमार जैन

प्रकाशक :
श्रुत संवर्द्धन संस्थान
मेरठ

राष्ट्रसंत परमपूज्य आचार्य 108 श्री ज्ञानसागर जी महाराज के पंचम आचार्य पदारोहण दिवस के सुअवसर पर प्रकाशित

जैन धर्म –एक झलक

© श्रुत संवर्द्धन संस्थान, 2017

पुण्यार्जक : श्री धन्य कुमार जैन-श्रीमती सीमा रानी जैन
श्री अभिषेक जैन-श्रीमती प्रिया जैन
श्री अर्चित जैन (अवागढ़, एटा वाले)
खतौली, मुजफ्फरनगर।

पूर्व संस्करण (छः)	:	24800 प्रतियाँ
प्रस्तुत संस्करण (2017)	:	10000 प्रतियाँ

न्योछावर राशि : 40/- रुपये मात्र (साहित्य संवर्द्धन हेतु)

प्राप्ति स्थान :

❖ **श्रुत संवर्द्धन संस्थान**
प्रथम तल, 247 दिल्ली रोड
मेरठ-250002 (उ०प्र०)

❖ **संस्कृति संरक्षण संस्थान**
32/3C कांति नगर एक्सटेंशन
दिल्ली-110051
फोन : 9811352054, 9312243845

❖ **प्राच्य श्रमण भारती**
12/ए निकट जैन मंदिर
प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर-251001 (उ०प्र०)

प्रथम तीर्थंकर
भगवान ऋषभदेव

अंतिम तीर्थंकर
भगवान महावीर

(ब्रिटिश म्यूजियम लंदन में स्थित, W.C. 1B-3D.G.)

21वीं शताब्दी का धर्म : जैन धर्म

—मुज़फ़्फ़र हुसैन, मुंबई

हम यहाँ कर्मकांड के रूप में नहीं, बल्कि दर्शन के आधार पर यह कहना चाहेंगे कि 21वीं शताब्दी का धर्म जैन धर्म होगा। इसकी कल्पना किसी सामान्य व्यक्ति ने नहीं की है, बल्कि बर्नाड शॉ ने कहा है कि यदि मेरा दूसरा जन्म हो, तो मैं जैन धर्म में पैदा होना चाहता हूँ।

रेवेरेंड तो यहाँ तक कहते हैं कि दुनिया का पहला मज़हब जैन था और अंतिम मज़हब भी जैन होगा। यू०एस०एस० के दार्शनिक बार्ल्ट मोराइस का तो यहाँ तक कहना है कि यदि 'जैन धर्म को दुनिया ने अपनाया होता, तो यह दुनिया बड़ी खूबसूरत होती।' जैन, धर्म नहीं जीने का दर्शन है। सरल भाषा में कहूँ तो यह खुला विश्वविद्यालय है। आपको जीवन का जो पहलू चाहिए, वह यहाँ मिल जाएगा। मनुष्य के कष्टों का निवारण और अंतर्राष्ट्रीय आधार पर उसका उद्धार केवल (अनेकांतमयी) जैन दर्शन के माध्यम से ही संभव है।

—जिनभाषित मासिक (सितंबर 2010, पृ० 26-27)

महावीर की अहिंसा का प्रभाव

—देवर्षि कलानाथ शास्त्री, जयपुर

प्रत्येक कार्य में अहिंसा का दृष्टिकोण (जो एक सिद्धांत मात्र न होकर जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण है) पूरे देश के चिंतन पर छा गया था। मनु ने धर्म के लक्षणों में उन महाव्रतों को गिनाया, जो महावीर ने बताए थे। उससे पूर्व वैदिक कर्मकांड आदि में तथा धार्मिक दृष्टिकोण में अहिंसा का इतना प्रभाव एवं उसका पूर्ण क्रियान्वयन नहीं पाया जाता।' –'भारतीय संस्कृति : परिवेश और आधार' ग्रंथ से।

जैन धर्म की मौलिकता

—डॉ० हर्मन जेकोबी (जर्मन विद्वान)

जैन धर्म एक मौलिक पद्धति है जो सभी धर्मों से नितांत भिन्न और स्वतंत्र है। और इसलिए प्राचीन भारत के दार्शनिक विचार एवं धार्मिक जीवन के अध्ययन के लिए इसका अत्यंत महत्व है। (स्टडीज इन जैनिज्म, पृ० 60)

आशीर्वचन

वर्तमान में पाश्चात्य संस्कृति के कारण धर्म से विमुखता और नैतिक मूल्यों के प्रति ह्रासता आ रही है। व्यक्ति धर्म को व्यर्थ की चीज़ कहकर दूर भाग रहा है। फलस्वरूप आज प्रत्येक व्यक्ति अशांत, दुःखी तथा तनावग्रस्त नज़र आ रहा है। तनावमुक्ति तथा अशांति दूर करने के लिए मुनियों-ऋषि-महर्षियों ने धर्म की छत्रछाया में, धर्म की शरण में जाने की चर्चा की है।

धर्म वह परम रसायन है जो व्यक्ति को दुःखों से छुटकारा दिलाकर उत्तम सुख की प्राप्ति कराता है, जीवन जीने की कला सिखाता है, कषायों की ज़ंजीरों को तोड़ता है। मुनियों-ऋषि-महर्षियों ने धर्म की अनेक परिभाषाएँ निरूपित की हैं।

- ❖ अहिंसा, दया और करुणा धर्म है।
- ❖ सदाचार की ओर कदम बढ़ाना धर्म है।
- ❖ समीचीन श्रद्धा होना धर्म है।
- ❖ कर्तव्यों का पालन करना धर्म है।
- ❖ वस्तु का स्वभाव धर्म है।
- ❖ उत्तम चारित्र ही धर्म है।
- ❖ जो उत्तम सुख में स्थापित कर दे, वह धर्म है।

जिनेंद्र प्रभु के द्वारा प्ररूपित धर्म जैन धर्म है, जो अनादिनिधन, वैज्ञानिक एवं अनेक विशेषताओं से युक्त है। जैन धर्मानुसार प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं के भाग्य का निर्माता है। व्यक्ति जन्म से नहीं, कर्म से महान बनता है। ईश्वर सृष्टि का निर्माता नहीं है। वह तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा है, सर्वज्ञ है तथा अतींद्रिय आनंद में लीन है।

आज विश्वशांति हेतु जैन धर्म के अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, अनेकांत-स्याद्वाद आदि सिद्धांतों की नितांत आवश्यकता है।

वर्तमान समय में जैनधर्म-दर्शन को समझने की उत्सुकता जैनों के साथ-साथ अन्य धर्मानुयायियों में भी बढ़ी है। आज का शिक्षित वर्ग अब सिर्फ़ एक ही धर्म-दर्शन

को जानने की अपेक्षा सभी धर्मों व दर्शनों को पढ़ना व समझना चाहता है। हमारा मानना है कि यदि जैनधर्म-दर्शन का अध्ययन न किया जाए तो भारतीय संस्कृति को संपूर्ण रूप से समझना कठिन है।

इस युग में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने जन-जन को नई राह दिखाकर मोक्षमार्ग प्रशस्त किया है। ऐसे तीर्थंकरों की, मुनियों-आचार्यों की वाणी जन-जन तक पहुँचे, जैन धर्म की वैज्ञानिकता तथा व्यापकता से जनसामान्य परिचित हो तथा सभी अपना कल्याण कर सकें, ऐसी मेरी भावना रही है। मैंने अपने इस मंतव्य की चर्चा डॉ० अनेकांत जैन, नई दिल्ली से की तथा उन्हें इस विषय पर कार्य करने को प्रेरित किया। फलस्वरूप प्रस्तुत कृति की रचना उन्होंने पूरे मनोयोग से की। 'जैन धर्म –एक झलक' सभी के जीवन में प्रकाश-स्तंभ का काम करे; अज्ञान, अंधकार को दूर कर सबको सुखी करे। ऐसा आशीर्वाद है।

भारतीय संस्कृति

भारतीय विचारधारा में अहिंसावाद के रूप में जैनदर्शन और जैन विचारधारा की जो देन है, उसको समझे बिना वास्तव में भारतीय संस्कृति के विकास को नहीं समझा जा सकता।

–डॉ० मंगलदेव शास्त्री

प्रकाशकीय

जैन वाङ्मय, पांडुलिपियों एवं अप्रकाशित प्राचीन ग्रंथों का प्रकाशन हो, अनुपलब्ध तथा महत्वपूर्ण कृतियों का पुनर्प्रकाशन हो, इस हेतु सराकोद्धारक राष्ट्रसंत आचार्यरत्न श्री ज्ञानसागर जी महाराज सतत प्रयत्नशील रहते हैं। इसी पवित्र उद्देश्य को लेकर आचार्यश्री की प्रेरणा से कई महत्वपूर्ण संस्थाओं; यथा– श्रुत संवर्द्धन संस्थान, प्राच्य श्रमण भारती एवं संस्कृति संरक्षण संस्थान आदि संस्थाओं का गठन पूज्यश्री की प्रेरणा से हुआ है। हर्ष का विषय है कि सभी संस्थाएँ पूज्यश्री के इस संकल्प को साकार करने में संयुक्त रूप से एक-दूसरे के साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य कर रही हैं।

अल्प समय में ही इन संस्थाओं के माध्यम से तथा पूज्य आचार्यश्री के मंगल आशीर्वाद से शताधिक महत्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन किया गया है। 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा', 'जैन धर्म', 'जैनशासन', 'मानवता की धुरी', 'एक अहिंसात्मक जीवन-शैली', 'आप बनें सर्वश्रेष्ठ', 'ज्वलंत प्रश्न शीतल समाधान', 'ज्ञान के हिमालय', 'बड़े भैया की पाती' तथा 'जैन धर्म –एक झलक' जैसी अनेक कृतियों के प्रकाशन ने केवल जैन समाज में ही नहीं, बल्कि राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय क्षितिज पर नई दस्तक देकर अनेक कीर्तिमान स्थापित किए हैं।

षट्खंडागम जैसे वृहद् प्राकृत आगम ग्रंथों का भी प्रकाशन करके भगवान महावीर की मूलवाणी को सुरक्षित रखने का कार्य भी पूज्य आचार्यश्री की पावन प्रेरणा एवं आशीर्वाद से संभव हो सका है। 'सत्प्ररूपणासार' भी षट्खंडागम पर आधारित है। इसका कुशल संपादन डॉ० अनेकांत जैन जी ने किया है तथा ग्रंथमाला से वह ग्रंथ भी प्रकाशित हुआ है।

पूज्यश्री की पावन प्रेरणा एवं आशीर्वाद से श्रुत संवर्द्धन संस्थान, संस्कृति संरक्षण संस्थान आदि संस्थाओं के तत्वावधान में अनेक ऐतिहासिक कार्य हुए हैं। इन महत्वपूर्ण कार्यों में संस्कारों के शंखनाद कराने वाले धार्मिक शिविर, सराक धार्मिक शिक्षण शिविर, वार्षिक श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार, प्रतिवर्ष आयोजित होने वाले ऑल इंडिया जैन डॉक्टर्स कांफ्रेन्स, अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक कांफ्रेन्स, अखिल भारतीय एडवोकेट्स कांफ्रेन्स, न्यायविद्, I.A.S., I.P.S. तथा उच्च पदों पर विराजमान शासकीय अधिकारियों की कांफ्रेन्स, जैन विद्वत्संगोष्ठी, शास्त्र वाचनाएँ आदि प्रमुख हैं। इन सभी आयोजनों से जहाँ बुद्धिजीवी वर्ग को नई दिशा प्राप्त हुई है वहीं पूज्यश्री

के प्रभावशाली व्यक्तित्व से प्रेरणा पाकर अपने समाज एवं राष्ट्र के लिए कुछ नया तथा महत्वपूर्ण कर गुज़रने की इच्छा जाग्रत हुई है।

इसी क्रम में जैन धर्म तथा दर्शन को जन-जन तक पहुँचाने के लिए एक लघु पुस्तक की आवश्यकता को पूज्यश्री ने अनुभव किया। पूज्यश्री की प्रेरणा पाकर डॉ० अनेकांत जैन जी ने अथक परिश्रम करके प्रस्तुत कृति 'जैन धर्म –एक झलक' की रचना की है। सरल तथा सहज भाषा में लिखित यह कृति समाज के सभी वर्गों तथा जैनेत्तर समाज ने हाथोंहाथ ली। अल्प समय में ही पुस्तक के अनेक संस्करणों में लगभग 20,000 प्रतियों के प्रकाशन से इस पुस्तक की लोकप्रियता प्रमाणित होती है। इस पुस्तक का अनुवाद कन्नड़ में भी हो चुका है।

पुस्तक का यह नवीन संस्करण आवश्यक संशोधन तथा परिमार्जन के साथ इस आशा से प्रकाशित किया जा रहा है कि पुस्तक और भी उपयोगी बने। अंत में मैं इस पुस्तक प्रकाशन से जुड़े अपने सभी सहयोगियों को हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ एवं कामना करता हूँ कि उनका सक्रिय सहयोग हमें सदैव प्राप्त होता रहे।

महामंत्री

श्रुत संवर्द्धन संस्थान

अपनी बात

जैन धर्म एक विशुद्ध महान आध्यात्मिक धर्म है। इस शाश्वत आत्मधर्म का संबंध किसी जाति विशेष से कभी नहीं रहा। सभी जाति के मानवों ने इस जैन धर्म का पालन कर आत्म-कल्याण और विश्वशांति का लक्ष्य पूर्ण किया है। वैसे भी कोई धर्म यदि किसी जाति विशेष से संबद्ध होकर रहे तो वह ज़्यादा समय तक टिक नहीं सकता। जैन धर्म अनादि काल से चला आ रहा है और अनंत काल तक प्रवर्तित रहेगा। यह ज़रूर है कि समय के उतार-चढ़ाव के कारण जैन धर्म भी प्रभावित होता रहा है; किंतु ऐसा भी काल रहा जब जैन धर्म का डंका बजा करता था। कैसा भी समय रहा हो, कैसी भी परिस्थितियाँ रही हों किंतु जैन धर्म की तथा जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने कभी भी अपने मूल-सिद्धांतों तथा शुद्धाचरण के साथ समझौता नहीं किया।

विश्वशांति के लिए कैसा जीवन जीना चाहिए, इसका साक्षात् उदाहरण जैन समुदाय है। जैन धर्म के अनुयायियों ने अपनी माँगों को लेकर, अपने अधिकारों के लिए कभी भी कोई हिंसक आंदोलन नहीं किया, जिससे समाज या राष्ट्र की शांति भंग हुई हो। उन्होंने सदा अपनी बात को विन्नम तथा गरिमापूर्ण तरीके से रखा है। अधिकार न मिलने पर भी धैर्य रखा है न कि इसकी खातिर हथियार उठाकर बेगुनाहों के कत्ले आम किए हैं, जबकि ऐसी घटनाओं से अधिकांश अन्य धार्मिक संप्रदायों के इतिहास भरे पड़े हैं।

जैन धर्म की नीति पूरे विश्व के लिए प्रेरणास्रोत है। मुगल काल में अनेक जैन मंदिरों तथा मूर्तियों को भी तोड़ा गया। देश में आज भी कई हिंदू तीर्थ ऐसे हैं जो मूलतः जैनों के थे। आज भी कितने ही स्थानों पर अधिकारों का हनन हो जाता है; किंतु जैन इसके लिए अहिंसक आंदोलन ही करते हैं। कहीं कोई मौन जुलूस निकालता है, कहीं कोई उपवास करता है, कहीं कोई विरोध-पत्र ही भेजता है, कहीं शिष्ट मंडल अपनी बात लेकर प्रधानमंत्री या अन्य संबंधित मंत्रियों से मिलता है। अपने निहित स्वार्थों के लिए जैनों ने कभी आवेश या आवेग में आकर राष्ट्र की शांति भंग करने का प्रयास नहीं किया।

आज के इस युग में जहाँ बात-बात पर पूरे खानदान को गोलियों से भून दिया जाता हो, दूसरे संप्रदाय से विद्वेष के कारण उनकी बस्तियों में दंगे करवाए जाते हों; धार्मिक कट्टरता से प्रेरित होकर लाखों बेगुनाहों की जान ले ली जाती हो, जीभ के

स्वाद के लिए हज़ारों-लाखों पशु-पक्षी प्रतिदिन मौत के घाट उतारे जाते हों, ऐसे माहौल में जैन धर्म तथा समुदाय एक आदर्श है जो तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद आज भी इन सभी बातों से कोसों दूर है। उसे अपने अस्तित्व की कीमत पर भी राष्ट्र और जनता का अहित मंजूर नहीं है।

इसके विपरीत राष्ट्र, समाज, जनता तथा पशु-पक्षियों तक की सेवा के लिए जैन धर्म तथा समाज सदैव समर्पित रहा है। आज़ादी के आंदोलन में राष्ट्र के लिए न जाने कितने जैनों ने कारावास भोगा, अपने प्राण न्योछावर कर दिए, क्रांतिकारियों को आर्थिक सहयोग के लिए तिजोरियाँ खोल दीं और प्रतिदान में कभी यह भी अपेक्षा नहीं की कि मेरा नाम अखबारों में आए; शायद यही कारण है कि उनका नाम भी बहुत कम लोग जानते हैं। समाजसेवा के क्षेत्र में जैन समाज ने हज़ारों अस्पताल पूरे देश में बनवाएँ जहाँ गरीबों का निःशुल्क इलाज चलता है। हज़ारों विद्यालय-महाविद्यालय पूरे देश में सिर्फ़ इसलिए बनाए ताकि राष्ट्र का भविष्य अनपढ़ न रहे। जैनों ने पशु-पक्षियों के लिए अस्पताल तथा गौशालाएँ भी जीव रक्षा के प्रधान उद्देश्य से बनवाईं। आज भी दिगंबर तथा श्वेतांबर जैन मुनि पूरे भारत में नंगे पैर पैदल भ्रमण करते हैं तथा अहिंसा, दया, मैत्री, करुणा, शाकाहार, शांति का संदेश गाँव-गाँव में, नगर-नगर में फैलाते हैं; जनता को शुद्ध अहिंसक जीवन-शैली, राष्ट्रभक्ति तथा नैतिकता का प्रशिक्षण भी देते हैं।

इन सभी सद्-संस्कारों के पीछे जैन के सभी तीर्थंकारों की वे महान शिक्षाएँ हैं जिनका आज भी किसी न किसी रूप में पालन किया जा रहा है। तीर्थंकरों ने कोरा उपदेश ही नहीं दिया बल्कि आचरण में लाकर प्रेरणा दी, जो एक सही गुरु का कर्तव्य होता है। आज भी लाखों की संख्या में तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ खड्गासन या पद्मासन मुद्रा में परम वीतराग योगी स्वरूप ही मिलती हैं। कभी कोई हथियार लिए, किसी पशु पर सवार या फिर पत्नी को साथ में लिए हुए तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ कहीं नहीं मिलेंगी। जैन जिनकी पूजा-अर्चना करते हैं, उन्हें हमेशा शांत, अहिंसक तथा आध्यात्मिक ध्यान शुद्धोपयोग अवस्था में पाते हैं और यही संस्कार वे स्वयं में लाने का प्रयास करते हैं।

जैन धर्म के इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है कि किसी को बलात् जैन बनाया गया हो अथवा दीक्षित किया गया हो। बलात् धर्मांतरण जैसी नीति उसे कभी पसंद नहीं रही। ऐसे सभी लोग जो जन्म से जैन नहीं थे किंतु इसके सिद्धांतों तथा आचरण से प्रभावित होकर जैन बने हैं और स्वयं के जीवन में उसका पालन कर रहे हैं, वे सभी स्वयं भी प्रभावित हुए हैं। कई ब्राह्मण विद्वान आरंभ में वैदिक रहे किंतु

बाद में स्वयं ही जैन धर्म में दीक्षित होकर कठोर साधना की और जैन धर्म-दर्शन विषयक अनेक ग्रंथों का प्रणयन भी किया। आज भी कई जैन मुनि जाति से ब्राह्मण हैं। जैन धर्म सभी ने अपनाया और उसका पालन किया। जैन धर्म के नियम बहुत वैज्ञानिक हैं किंतु बहुत ज़्यादा आसान नहीं हैं तथापि जन्म से जैन कहे जाने वाले लोगों को भी ये नियम मानने के लिए मजबूर नहीं किया जाता; हाँ! अभ्यास हेतु प्रेरणा अवश्य दी जाती है और इसका परिणाम यह है कि अधिकांश लोग उसका पालन कर रहे हैं।

जैन बनने का अर्थ धर्म परिवर्तन नहीं है। हम जहाँ हैं जैसे भी हैं उसी स्थान पर रहकर जैन जीवन-शैली अपनाकर और सिद्धांतों का अध्ययन कर जैन बन सकते हैं। इसके लिए ज़रूरी नहीं कि नाम के आगे भी 'जैन' लगाया ही जाए। शुद्ध जीवन-शैली और अपनी शांत चित्त आत्मा की अनुभूति किसे पसंद नहीं? जैन धर्म बस इसका रास्ता बताता है। जो यह चाहे वह जैन हो जाए। कभी-कभी जन्म से जैन कहे जाने वाले लोग भी दुर्भाग्य से जैन धर्म का पालन नहीं कर पाते हैं तब उन्हें भी मात्र जन्मना जैन माना जाता है, कर्मणा नहीं।

यह छोटी-सी पुस्तक जैन धर्म की वास्तविकताओं तथा उसके सिद्धांतों को समझाने का प्रयास है या यूँ कहें कि एक छोटी-सी शुरूआत। प्रख्यात दिगंबर जैन संत आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज इस पुस्तक के मुख्य प्रेरणास्रोत हैं।

आचार्यश्री ने अपनी प्रेरणा देकर जिनवाणी की बहुत सेवा की है। कई दुर्लभ ग्रंथों को प्रकाशित किया है। कठिन मुनिचर्या का निर्वाह करते हुए भी वे जीवों के कल्याण के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। उनके मन की कल्पना को मैं इस छोटी-सी पुस्तक के माध्यम से कितना आकार दे पाया हूँ, यह तो मैं नहीं जानता किंतु इतना अवश्य जानता हूँ कि उनकी वाणी में इतना सम्मोहन है कि लोग बँध ही जाते हैं और उनके दर्शन मात्र करने से इतनी ऊर्जा आ जाती है कि व्यक्ति हर असंभव कार्य भी संभव बना सकता है। आचार्यश्री की दृष्टि बहुत पारखी है। पत्र-पत्रिकाओं में मेरे आलेखों को पढ़कर उन्होंने मुझे आदेश दिया था कि जैन धर्म का सरल परिचय देने वाली एक छोटी-सी पुस्तक लिखो। उनकी आज्ञा पाते ही मैंने शुरूआत कर दी। मन में तरह-तरह के विचार बनते रहे कि जैनदर्शन के विशाल भंडार से क्या लूँ तथा क्या न लूँ? छोटी पुस्तक में सभी बातें समेट पाना भी संभव नहीं है। अतः मैंने कुछ चुनिंदा विषयों को ही यहाँ पर संक्षेप में समझाने का प्रयास किया है। मैंने देखा है कि कई बार धर्म-दर्शन के विद्वान भी जैन धर्म के विषय में गलत भ्रांतियाँ पाले रहते हैं। मैंने यहाँ इस बात का भी ध्यान रखा है कि वे भ्रांतियाँ मिट सकें।

पिछले कई वर्षों से दैनिक जागरण, अमर उजाला, हिंदुस्तान, राष्ट्रीय सहारा, दैनिक ट्रिब्यून, नवभारत टाइम्स आदि अखबारों में लगातार जैन धर्म-दर्शन से संबंधित मेरे कई आलेख छपे। उन आलेखों पर जो सकारात्मक प्रतिक्रिया हुई, उसने भी मुझे यह पुस्तक लिखने हेतु प्रोत्साहित किया। अखबारों में लेख पढ़कर कई पत्र मेरे पास लगातार आए। उन पत्रों में नब्बे प्रतिशत्र पत्र उनके हैं जो जन्म से जैन नहीं हैं। जैन समुदाय से आने वाले पत्रों की संख्या दस प्रतिशत ही है। मुझे अजैन बंधुओं की जैन धर्म-दर्शन में रुचि देखकर महान आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपने पत्रों में जो जिज्ञासाएँ रखीं, उनसे मैं बहुत उत्साहित हुआ। यही कारण है कि मैंने यह पुस्तक जैनेत्तर बंधुओं को दृष्टि में रखकर लिखी है।

मेरे पूज्य पिता जी प्रो० (डॉ०) फूलचंद जैन 'प्रेमी' (अध्यक्ष-जैनदर्शन विभाग, सं०सं० विश्वविद्यालय, वाराणसी तथा अखिल भारतीय दिगंबर जैन विद्वत्परिषद अध्यक्षचरजी) ने तथा माँ डॉ० मुन्नीपुष्पा जैन ने बाल्य काल से ही जिनवाणी सेवा की लगन लगा दी। मेरी कोई भी रचना, लेख या पुस्तक उनके अमूल्य सुझावों तथा परिष्कार के बिना पूर्ण बन ही नहीं पाती है। माता-पिता का वरदहस्त ही मुझे छोटे से छोटा तथा बड़े से बड़ा कार्य करने की ऊर्जा प्रदान करता है। इस पुस्तक में भी उनका बहुत मार्गदर्शन मिला है। मेरे गुरु प्रो० दयानंद भार्गव जी की प्रेरणा तथा आशीर्वाद मुझे हमेशा प्रोत्साहित करता है। धर्मपत्नी श्रीमती रुचि जैन की सहज जिज्ञासाओं ने भी मुझे कई विषयों को प्रस्तुत करने में मदद की है।

सुधी पाठकों से मेरा निवेदन है कि इस पुस्तक में परिष्कार, संशोधन मुझे अवश्य बताएँ। मेरा अनुभव ज़्यादा नहीं है; अपने थोड़े बहुत अनुभव और अल्पकालिक शास्त्राभ्यास के आधार पर यह प्रस्तुत कर रहा हूँ। आशा है कि आप अपना आशीर्वाद अवश्य देंगे। आप अपनी प्रतिक्रिया पत्र, फ़ोन, SMS द्वारा 09711397716 पर तथा Email द्वारा anekant76@yahoo.co.in पर भी कर सकते हैं।

—डॉ० अनेकांत कुमार जैन

विषय-सूची

1. जैन धर्म : इतिहास और वर्तमान 1
2. संप्रदाय : दिगंबर और श्वेतांबर 7
3. जैन आगम साहित्य का इतिहास 9
4. जैन धर्म का प्रमुख मंत्र एवं प्रार्थना 14
5. षड्द्रव्य एवं विश्व-व्यवस्था 19
6. रत्नत्रय और मोक्षमार्ग 23
7. सप्त तत्व और मुक्ति की विधि 25
8. अणुव्रत : संयम साधना का शुभारंभ 28
9. जैनदर्शन की रीढ़ : अनेकांत और स्याद्वाद 32
10. स्वर्ग एवं नरक का रहस्य 35
11. आत्मानुभूति का मार्ग : दशलक्षण धर्म 39
12. जीवन का उत्कर्ष : बारह भावनाएँ 41
13. जीवन का सूत्र : कर्म विज्ञान 44
14. मनुष्य का भाव जगत् और गुणस्थान 47
15. जैन धर्म के प्रमुख पर्व-उत्सव 51
16. जैन धर्म की आस्तिकता 55
17. मरने की कला : अंत भला सो सब भला 57
18. जैन योग की समृद्ध परंपरा 61

❖ मत/अभिमत 64

❖ लेखक परिचय 66

वह मूर्खता का युग गया

मैं हिंदू हूँ, ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता हूँ। कम से कम मेरी परंपरा ने मुझे यही विश्वास दिया है। पर मैं हृदय से जैन धर्म का भक्त हूँ। कोई झगड़े की बात तो जैन धर्म कहता ही नहीं है। वह मूर्खता का युग तो चला गया, जब हम जैन मंदिर में जाना भी पाप समझते थे। वह मूर्खता तो समाप्त हुई, पर दूसरी मूर्खता समाप्त होनी चाहिए, कि हम दूसरे को भिन्न समझें। जैन धर्म नास्तिक नहीं है। जीव की सत्ता में विश्वास रखने वाला नास्तिक हो ही नहीं सकता। मेरा तात्पर्य केवल इतना ही है कि हमने जैन धर्म को समझने की चेष्टा नहीं की है। इसलिए हम अच्छे हिंदू नहीं बन पा रहे हैं। मैं तो यही कहूँगा कि भगवान महावीर की अमर वाणी यदि भूल से भी किसी के कान में पड़ जाए, तो उसका कल्याण हो जाएगा। ('हिंदुओं के आराध्य-भगवान महावीर' निबंध के चयनित अंश)।

—डॉ० परिपूर्णाचंद वर्मा

आत्म-कल्याण और समाज कल्याण

महावीर की विचारधारा जहाँ एक अध्यात्मवादी साधन के अनुकूल थी, वहाँ जन-सेवा की मनोवृत्ति भी इसमें पूर्णतः प्रस्फुटित होती थी। महावीर स्वामी की इन भावनाओं पर आचरण करने से मनुष्य निःसंदेह आत्म-कल्याण और समाज कल्याण दोनों की दृष्टि से सर्वोच्च स्थान तक पहुँच सकता है। ('अहिंसा और अपरिग्रह के प्रतीक महावीर स्वामी' पुस्तक से)।

—पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

जैन धर्म की प्राचीनता

विद्वानों का अभिमत है कि यह धर्म प्रागैतिहासिक और प्राग्वैदिक है। सिंधुघाटी की सभ्यता से मिली योग-मूर्ति तथा ऋग्वेद के कतिपय मंत्रों में ऋषभ तथा अरिष्टनेमि जैसे तीर्थंकरों के नाम इस विचार के मुख्य आधार हैं। भागवत् और विष्णुपुराण में मिलने वाली जैन तीर्थंकर ऋषभदेव की कथा भी जैन धर्म की प्राचीनता को व्यक्त करती है।

—डॉ० विशुद्धानंद पाठक व डॉ० जयशंकर मिश्र

(भारतीय इतिहास और संस्कृति, पृ० 199)

1 जैन धर्म : इतिहास और वर्तमान

जैन धर्म

समस्त इंद्रियों पर विजय प्राप्त करने के बाद प्रथम जिन तीर्थंकर ऋषभदेव (आदिनाथ) ने मनुष्यों को सुखी करने के लिए जिस धर्म को इस कर्मभूमि पर आज से लाखों वर्ष पहले पुनः स्थापित किया, वह धर्म ही 'जैन धर्म' कहलाता है। जो जिनेंद्र की पूजा करते हैं; उनके बनाए हुए रास्ते पर चलने का प्रयास करते हैं, वे जिनेंद्र के अनुयायी ही 'जैन' कहलाते हैं। यह जैन धर्म चिरकाल से भारत का मूल रहा है। इसलिए इस पर न ही बाहर से भारत में आने का आरोप है और न ही बौद्धों की तरह भारत से बाहर जाकर फैल जाने का। अहिंसा, त्याग, तपस्या, संयम का पालन करने वाला आध्यात्मिक जैन धर्म सदा काल से भारत में ही उत्पन्न हुआ और यहीं का होकर रह गया। आचार-विचार और आध्यात्मिक ह्रास की कीमत पर प्रचार-प्रसार जैनों को कभी प्रिय नहीं रहा। संख्यात्मक वृद्धि (Quantity) की अपेक्षा गुणात्मक (Quality) समृद्धि में ही जैनों का सदा से अधिक विश्वास रहा है।

इस पृथ्वी पर भोगभूमि के नष्ट होने के बाद कर्मभूमि के प्रारंभ में राजा ऋषभदेव ने जनता को पुरुषार्थ सिखाया और 'कृषि करो और ऋषि बनो' का पाठ पढ़ाया। उन्होंने असि, मसि, कृषि, विद्या (अंक एवं लिपि), शिल्प तथा वाणिज्य इन छह कर्मों का ज्ञान सभी को जीविकोपार्जन तथा श्रेष्ठ जीवन हेतु कराया। साथ ही प्रत्येक को आदर्श जीवन जीने की कला सिखाई। कई वर्षों तक राजपाट करके सब कुछ व्यवस्थित करने के बाद महाराज ऋषभदेव ने संयम और त्याग का मार्ग अपनाया। सारे वस्त्र-आभूषण, राजपाट त्यागकर नग्न दिगंबर मुनिदीक्षा धारण करके आपने कैलाश पर्वत पर जाकर कठोर तप किया और केवलज्ञान रूपी सर्वज्ञता प्राप्त की और अर्हत् बने। सभी जीवों को सुखी होने का उपाय बतलाया, मोक्षमार्ग का प्रतिपादन किया। कुछ समय बाद आठ कर्मों का नाश करके निराकार सिद्धावस्था को प्राप्त हो गए।

ऋषभदेव के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र भरत ने छहों खंडों पर विजय प्राप्त की और चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। भारत की जनता ने तथा अनेक वैदिक पुराणकारों ने तीर्थंकर ऋषभदेव के इन्हीं पुत्र 'भरत' के नाम से इस देश को 'भारतवर्ष' कहकर पुकारा और इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ गया। 'भारतवर्ष' नाम के पूर्व ऋषभदेव के पिता मनु और कुलकर नाभिराज के नाम पर अपने देश का प्राचीन नाम 'अजनाभवर्ष' भी प्रसिद्ध रहा है। इन्हीं भरत ने तथा इनके छोटे भाई बाहुबली ने दिगंबर मुनिदीक्षा लेकर

कठोर तप करके मोक्ष प्राप्त किया, जिनकी विश्वप्रसिद्ध सत्तावन फुट की अद्भुत भव्य विशाल मूर्ति श्रवणबेलगोला (कर्नाटक प्रांत) में एक हज़ार वर्ष से स्थापित है।

चौबीस तीर्थंकर

चौबीस तीर्थंकरों की इसी दीर्घ परंपरा में इन्हीं प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के बाद तेईस और तीर्थंकर हुए, जिन्होंने मोक्षमार्ग का उपदेश देकर जैन धर्म की पुनः-पुनः स्थापनाएँ कीं। जैन धर्म में चार संज्ञाएँ ऐसी हैं, जिनके बीच सामान्य जनों में अस्पष्टता बनी रहती है। वे चार संज्ञाएँ हैं–

(i) जिनेंद्र देव (ii) अरिहंत (iii) तीर्थंकर (iv) सिद्ध

बहुत-से लोग इनमें अंतर नहीं कर पाते हैं तथा इन्हें एक ही अर्थ में लेते हैं। इसका थोड़ा-सा स्पष्टीकरण ज़रूरी है। प्रथम संज्ञा है '**जिनेंद्र**'। यह सामान्य संज्ञा है। हम शेष तीनों को जिनेंद्र कह सकते हैं क्योंकि जिनेंद्र का अर्थ है जिन्होंने इंद्रियों को जीत लिया है और इनमें से सभी ने इंद्रियों को जीता है। दूसरी संज्ञा है '**अरिहंत**'। इनकी परिभाषा यह है कि जिन्होंने चार घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है, वे '**अरिहंत**' हैं। अब तक अनंतानंत अरिहंत हो चुके हैं।

तीसरी संज्ञा है '**तीर्थंकर**'**।** यद्यपि ये भी अरिहंत ही हैं किंतु ये सामान्य अरिहंत से कुछ अलग काम करते हैं। इनके 'तीर्थंकर' नामकर्म की पुण्य प्रकृति का विशेष उदय होता है तथा धर्म तीर्थ के प्रवर्तक होने के कारण ये 'तीर्थंकर' कहलाते हैं। इनके समवशरण (धर्मसभा) की रचना होती है। ये मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं; इनकी दिव्य ध्वनि खिरती है; इत्यादि। इनकी संख्या चौबीस ही है, क्योंकि यह पुण्य सभी अरिहंतों का नहीं होता। हम संक्षेप में कह सकते हैं कि सभी तीर्थंकर अरिहंत होते हैं लेकिन सभी अरिहंत तीर्थंकर नहीं होते। जैसे लोकसभा में सभी मंत्री सांसद होते हैं किंतु सभी सांसद मंत्री नहीं होते।

चौथी संज्ञा है '**सिद्ध**'। जो ज्ञानावरणादि समस्त कर्मों का नाश करके मुक्त हुए और निराकार रूप में ऊर्ध्व लोक के अग्रभाग अर्थात् सिद्धालय में शाश्वत सुख स्वरूप में विराजमान हैं, वे 'सिद्ध' हैं। इस तरह जो पहले अरिहंत परमेष्ठी या तीर्थंकर पद पर प्रतिष्ठित थे, तब उनके चार घातिया कर्म (ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अंतराय) ही नष्ट हुए थे। बाद में उनके शेष बचे चार अघातिया कर्मों (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र) का नाश स्वतः हो जाता है। इस प्रकार आठों कर्मों से मुक्त होने के बाद वे ही शरीररहित निराकार ब्रह्मस्वरूप 'सिद्ध' परमेष्ठी बन जाते हैं। जो अरिहंत एवं तीर्थंकर होते हैं, वे सभी 'सिद्ध' बनने के बाद समान हो जाते हैं। अरिहंत या सिद्ध होने के बाद वे पुनः कभी संसार में नहीं आते। जैन धर्म में भगवान या ईश्वर का अवतार नहीं होता है।

जैन धर्म में चौबीस तीर्थंकरों की परंपरा इस प्रकार विद्यमान है–

तीर्थंकर	चिह्न	जन्मस्थान
1. ऋषभदेव	बैल	अयोध्या
2. अजितनाथ	हाथी	अयोध्या
3. संभवनाथ	घोड़ा	श्रावस्ती
4. अभिनंदननाथ	बंदर	अयोध्या
5. सुमतिनाथ	चकवा	अयोध्या
6. पद्मप्रभ	कमल	कौशांबी
7. सुपार्श्वनाथ	स्वस्तिक	बनारस (वाराणसी)
8. चंद्रप्रभ	चंद्रमा	चंद्रपुरी (बनारस)
9. पुष्पदंत	मगर	काकंदी
10. शीतलनाथ	कल्पवृक्ष	भद्दलपुर
11. श्रेयांसनाथ	गैंडा	सिंहपुर (सारनाथ)
12. वासुपूज्य	भैंसा	चंपापुरी
13. विमलनाथ	शूकर	कंपिला
14. अनंतनाथ	सेही	अयोध्या
15. धर्मनाथ	बज्रदंड	रत्नपुरी
16. शांतिनाथ	हरिण	हस्तिनापुर
17. कुंथुनाथ	बकरा	हस्तिनापुर
18. अरहनाथ	मछली	हस्तिनापुर
19. मल्लिनाथ	कलश	मिथिलापुर
20. मुनिसुव्रत	कछुआ	राजगृह
21. नमिनाथ	नीलकमल	मिथिला
22. नेमिनाथ	शंख	शौरीपुर
23. पार्श्वनाथ	सर्प	बनारस
24. महावीर	सिंह	वैशाली

इनमें अंतिम व चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर हैं। ईसा से 599 वर्ष पूर्व भगवान महावीर का जन्म वैशाली के कुंडग्राम में हुआ था। भगवान महावीर जैन धर्म के आद्य प्रवर्तक या संस्थापक नहीं, अपितु चौबीसवें अंतिम तीर्थंकर तथा पूर्व प्रचलित जैन धर्म को आगे बढ़ाने वाले थे। भगवान महावीर के ही समय इस देश में भगवान बुद्ध हुए, जिन्होंने बौद्ध धर्म चलाया। जैन धर्म के कुछ तीर्थंकरों के मध्य सैकड़ों, तो कुछ के मध्य हज़ारों, यहाँ तक कि लाखों वर्षों तक का अलग-अलग अंतराल रहा है। इस प्रकार जैन धर्म अपने भारत देश का अति प्राचीन धर्म है।

जैन जाति नहीं, धर्म है

सामान्यतः लोग 'जैन' को जातिवाचक संज्ञा समझ लेते हैं और वर्तमान में मात्र जैन लोगों को ही जैन धर्म का अनुयायी मान लेते हैं। किंतु वस्तुतः 'जैन' एक धर्म है,

जाति नहीं। इसका जाति से कोई संबंध नहीं है। किसी भी जाति का मानव जैन धर्म का पालन कर सकता है। प्राचीन काल में ऐसा अधिकतर होता रहा है। किंतु अब तक के इतिहास में कभी किसी को जबरन जैन धर्मानुयायी नहीं बनाया गया और न इस तरह के विश्वास को पनपने दिया गया। यहाँ जाति का तात्पर्य मात्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र से नहीं है बल्कि मनुष्यों के अलावा पशुओं से भी है। तीर्थंकरों के समवशरण (धर्म उपदेश सभा) में उनके सर्वकल्याणकारी प्रवचन सुनने सभी जाति के मनुष्य तो आते ही थे; यहाँ तक कि पशु-पक्षियों के बैठने की भी व्यवस्था थी क्योंकि उनके उपदेश सर्वभाषामयी जनभाषा प्राकृत में होते थे। यद्यपि उस समय देव भाषा संस्कृत में ही उपदेश देने की परंपरा थी किंतु भगवान महावीर ने ऐसा न करके लोक में राष्ट्रभाषा के रूप में प्रचलित जनभाषा प्राकृत में ही उपदेश दिए और उनके उपदेशों पर आधारित सभी मूल-आगम भी प्राकृत भाषा में ही निबद्ध हुए। इस दृष्टि से यह भगवान महावीर की भाषायी क्रांति भी थी।

भगवान महावीर पूर्वजन्म में सिंह थे। चारणऋद्धिधारी दो मुनियों ने आकाश मार्ग से गमन करते समय आकाश से नीचे उतरकर सिंह को संबोधन दिया था और सिंह को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई थी। अतः सभी संज्ञी पंचेंद्रिय जीव जैन धर्म को अपना सकते हैं तथा उसका पालन कर सकते हैं। इसी प्रकार मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी जैन धर्म का पालन कर सकते हैं।

जैन धर्म के सभी तीर्थंकर क्षत्रिय जाति के थे। भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम तथा अन्य दस गणधर ब्राह्मण जाति के थे। गौतम गणधर ने भी दिगंबर मुनिदीक्षा लेकर केवलज्ञान प्राप्त किया था और मोक्षगामी बने।

जैन धर्म के अनुसार संसार के सभी जीवों की सभी आत्माएँ समान हैं तथा प्रत्येक आत्मा स्वपुरुषार्थ द्वारा आत्मविकास करती हुई भक्त से भगवान परमात्मा बनकर परमपद पा सकती है। इस प्रकार इस संसार में सभी लोग चाहे वे किसी भी जाति के हों, जैन धर्म का पालन कर सकते हैं। जो लोग जैन धर्म को मात्र वैश्यों का धर्म मानते हैं या बतलाते हैं, वे वास्तव में अपनी अल्पज्ञता का ही परिचय देते हैं। वास्तव में तो जैन धर्म जन-जन का धर्म है।

दसवीं सदी के आचार्य श्री सोमदेव सूरि ने अपने नीतिवाक्यामृत में कहा है कि आसन-बर्तन इत्यादि जिसके शुद्ध हों, मांस-मदिरा आदि के त्याग से जिसका आचरण पवित्र हो और नित्य स्नान आदि के करने से जिसका शरीर शुद्ध हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मणादिक के समान श्रावक धर्म का पालन करने योग्य है–

''आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति
शूद्रानपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यान्। (*7/12*)

भट्टारक सोमसेन के त्रैवर्णिकाचार में इसी संदर्भ में कहा गया है कि आचार

शुद्धिपूर्वक जैन धर्म का पालन करने में ये चारों वर्ण भाई-भाई के समान हैं। इस श्लोक को यहाँ उद्धृत करके मैं अपनी इस चर्चा को यहीं सीमित करता हूँ–

विप्रक्षत्रियविट्शूद्राः प्रोक्ताः क्रियाविशेषतः।
जैनधर्मे पराः शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः॥ (*7/142*)

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि जैन धर्म में मूलतः जातिवाद का कोई स्थान नहीं है। यह एक विश्वबंधुत्व की भावना से युक्त समतावादी, सर्वकल्याणकारी आध्यात्मिक धर्म है तथा वे सभी लोग, जो स्वयं को शुद्ध आचार-विचारपूर्वक सच्चे सुख के मार्ग पर लगाना चाहते हैं; जैन धर्म का पालन करके जैन धर्मानुयायी बन सकते हैं। उन्हें अपनी जाति को लेकर चिंतित होने की ज़रूरत नहीं है।

जैन धर्म और हिंदू

बहुत-से लोग आज भी जैन धर्म को हिंदू धर्म की शाखा बतलाकर उसे हिंदू धर्म के अंतर्गत ही मान लेते हैं। जबकि स्थिति ऐसी नहीं है। हिंदुत्व, हिंदू धर्म, हिंदू जाति और हिंदू संस्कृति इन सभी संज्ञाओं तथा इनकी परिभाषाओं में काफ़ी अंतर है।

सिंधु नदी के सिंधु शब्द से हिंदू शब्द बना है। 'स' को 'ह' का उच्चारण करने वालों ने ऐसा किया। अतः हिंदू शब्द एक संपूर्ण सभ्यता और एक संपूर्ण संस्कृति का सूचक है जिसके आधार पर अपने भारत देश का 'हिंदुस्तान' नाम भी पड़ा और भाषा का नाम भी 'हिंदी' आया। इस आधार पर हिंद देश की सभी सभ्यताएँ हिंदू ही हैं। जैन धर्म इसी हिंद देश का मूल धर्म रहा है। इसके अनुयायियों ने इसी संस्कृति को हमेशा संरक्षण दिया, पालन किया और बढ़ाया। इसी संस्कृति का नाम हिंदू संस्कृति पड़ गया। अतः इस दृष्टि से निश्चित रूप से जैन संस्कृति हिंदू संस्कृति ही है।

अब प्रश्न है हिंदू धर्म, जाति और हिंदुत्व का। भारत में प्राचीन काल से दो धाराएँ एक साथ बह रही हैं– श्रमण और वैदिक। पहले श्रमण धारा में सिर्फ़ जैन ही आते थे, बाद में बौद्ध धर्म को भी श्रमणों में सम्मिलित मान लिया गया। बहुत पहले तक हिंदू धर्म कोई पृथक् धर्म नहीं था। धर्म थे– वैदिक, वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन इत्यादि। कालांतर में कुछ कट्टरपंथियों ने हिंदू धर्म का अर्थ किया– वैदिक। अब हिंदू एक संस्कृति होने के साथ-साथ एक धर्म, एक दर्शन, एक जाति भी कही जाने लगी। इस प्रकार वैदिक परंपरा को न मानने के कारण जैन और बौद्ध दोनों ही अवैदिक अर्थात् अ-हिंदू धर्म माने गए।

कालांतर में कुछ राजनैतिक संगठनों ने धर्म की स्वार्थपूर्ण व्याख्याएँ कीं और मुसलमानों के विरोध में हिंदूओं की संख्या बढ़ाने के लिए जैन और बौद्ध को भी इसी में गर्भित करने की रणनीति बनाई। इस समुदाय में सिख धर्म भी शामिल किया गया। कहने का तात्पर्य है कि व्याख्या यह की गई कि भारत में ईसाई और मुसलमानों के अलावा सभी हिंदू हैं।

कुछ बौद्धों, सिखों और जैनों को यह परिभाषा अच्छी लगी, क्योंकि प्राचीन परंपरा जो हिंदू को एक संस्कृति के रूप में मानती थी– ऐसी ही थी। किंतु बाद में जब इस छद्‌म समन्वय में अन्य धर्मों के मूल स्वरूप के विलय की गंध आने लगी और समन्वय इस तर्क पर किया गया कि जैन एवं बौद्ध धर्म भी वैदिक धर्म से ही निकली हुई शाखाएँ हैं इसलिए हिंदू हैं तब कुछ अन्य भारतीय धर्मों को होश आया और उन्होंने विवश होकर यह कहा कि वे हिंदू नहीं हैं।

इस प्रकार जिस हिंदू धर्म, जाति एवं हिंदुत्व की राजनैतिक छद्‌म परिभाषा आज के युग में चल रही है, उस दृष्टि से अन्य की तरह जैन भी निश्चित रूप से हिंदू नहीं हैं।

हमेशा की तरह आज भी भारतवर्ष में जैन धर्म एक स्वतंत्र और संपूर्ण धर्म है। देश के प्रत्येक कोने में बसा जैन समाज एक स्वतंत्र समाज है। उनके स्वतंत्र मंदिर, स्वतंत्र आगम-शास्त्र, स्वतंत्र पूजा-पद्धति तथा स्वतंत्र जीवन-शैली, संस्कृति, कला एवं मान्यताएँ हैं। शुद्ध खान-पान, सिद्धांत, आचार-विचार, विशुद्ध शाकाहार और अहिंसा में विश्वास करने वाली, संयम-तप और नैतिक जीवन मूल्यों में आस्था वाली, मारकाट, दंगों, सांप्रदायिक हिंसा और भ्रष्टाचार आदि बुराइयों से दूर, शांतिप्रिय, शिक्षित, सभ्य, स्वदेश प्रेमी जैन समाज अपने इस प्यारे भारत देश में मानवीय मूल्यों की खुलकर होती त्रासदी तथा अंधविश्वासों के बीच एक प्रकाशपुंज है, जो भविष्य को सही रास्ता दिखा रहा है।

▢▢

भारत की मूल संस्कृति

''मूलतः इस देश के निवासियों की एक ही संस्कृति थी, वह भी श्रमण संस्कृति। अनेक युग बीत गए। तब इस देश ने एक नई संस्कृति के दर्शन किए। इस संस्कृति में 'ईश्वर' नाम की एक ऐसी शक्ति की कल्पना की गई, जो इस जगत्‌ का कर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता है। इसको प्रसन्न करने से हमारी कामनाओं की पूर्ति हो जाएगी। इसमें पुरुषार्थ के स्थान पर भाग्य की प्रधानता की गई थी।''

–आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज, प्राकृत विद्या 7/4, पृ०6

ईसा मसीह और जैन धर्म

इतिहासवेत्ता पं० सुंदरलाल ने 'हजरत ईसा और ईसाई धर्म' नामक पुस्तक में लिखा है– ''भारत में आकर हजरत ईसा बहुत समय तक जैन साधुओं के बीच रहे। तीन बातें ईसा ने कहीं– आत्म-श्रद्धा या आत्मविश्वास यानी तुम अपनी आत्मा को समझो, विश्व प्रेम और तीसरा जीव दया, ये सम्यक्‌ दर्शन-ज्ञान और चारित्र का ही रूपांतर या प्रकारांतर महात्मा यीशू का सिद्धांत है।''

–आचार्य विद्यानंद मुनिराज (अमर उजाला, 25/12/07)

संप्रदाय : दिगंबर एवं श्वेतांबर

वर्तमान में जैन परंपरा में प्रमुख दो संप्रदाय हैं– दिगंबर और श्वेतांबर। दिगंबर संप्रदाय में साधु नग्न (दिगंबर दिशाएँ ही हैं अंबर (वस्त्र) जिनके, ऐसे) रहकर संयम साधना करते हैं और श्वेतांबर संप्रदाय में साधु सफ़ेद वस्त्र पहनकर साधना करते हैं

तीर्थंकर महावीर के बाद जैन धर्म में यह दो संप्रदाय क्षेत्र-काल की परिस्थितिवश खड़े हुए। भगवान महावीर की शिष्य परंपरा में अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु हुए। तब तक महावीर की परंपरा चौबीस तीर्थंकरों के दिगंबर वेष के अनुरूप नग्न रहकर साधना करने की चल रही थी। महावीर निर्वाण के लगभग 160 वर्ष बाद उत्तर भारत में बारह वर्ष का महादुर्भिक्ष (अकाल) पड़ा। निमित्तज्ञानी आचार्य भद्रबाहु स्वामी को इसका ज्ञान पहले ही हो गया। उन्होंने इस परिस्थिति को साधना के अनुरूप न जानकर श्रमण परंपरा के असली स्वरूप को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से सभी शिष्यों को दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान करने को कहा। किंतु आचार्य स्थूलभद्र के नेतृत्व में मुनियों का एक संघ दक्षिण नहीं गया तथा उत्तर भारत में ही रुका रहा। उत्तर भारत में विद्यमान दुर्भिक्ष के दुर्दिनों में उनकी साधना में काफ़ी कठिनाइयाँ आने लगीं। परिस्थितिवश उन साधुओं को श्वेत वस्त्र, पात्र, रजोहरण इत्यादि धारण करने पड़े। ऐसे ही साधु संघों को **श्वेतांबर** कहा जाने लगा। उधर श्रुतकेवली भद्रबाहु के नेतृत्व में दक्षिण भारत में जो श्रमण संघ तीर्थंकर महावीर की मूल परंपरा के अनुकूल नग्न रहकर आगमसम्मत साधना कर रहा था, वह दिगंबर श्रमण संघ अपने मूल स्वरूप को सुरक्षित रखने के कारण **दिगंबर** कहा जाने लगा।

इस प्रकार परिस्थितिवश दो संप्रदाय हो गए। फिर परंपरा और परिवर्तन पर कौन लगाम कसे? सभी ने अपने-अपने वेष के पक्ष में बातें कहनी प्रारंभ कर दीं। सभी स्वयं को मूल परंपरा का ही बतलाने लगे। सही और गलत का निर्णय तो स्वयं सर्वज्ञ ही जानते हैं। इन सबके बाद भी आज दिगंबर तथा श्वेतांबर ये दोनों ही संप्रदाय कुछ सामान्य सैद्धांतिक मान्यताओं के अलावा भगवान महावीर द्वारा बताए गए अधिकांश सिद्धांतों पर एकमत हैं। दोनों संप्रदायों में थोड़े-बहुत मतभेद तो हैं पर मनभेद न के बराबर हैं। सामाजिक समरसता दोनों में ही विद्यमान है। किसी भी बड़े उत्सव या अन्य आयोजन आदि को दोनों ही संप्रदाय के लोग मिल-जुलकर मनाते हैं।

दिगंबर संप्रदाय और उसके भेद-प्रभेद

यद्यपि दिगंबर संप्रदाय आरंभ से ही आगम, शास्त्र, सिद्धांत और मुनि आचार की दृष्टि से एक ही हैं; किंतु कालांतर में कुछ सैद्धांतिक और वैचारिक मान्यताओं,

विशेषताओं व पूजा पद्धतियों के कारण और भी पंथ बने परंतु गहराई में देखें तो वास्तव में ये पंथभेद भी बाह्य रूप के आधार पर हैं, अंतरंग रूप में सभी एक हैं। वर्तमान में दिगंबर संप्रदाय में निम्नलिखित तीन प्रमुख पंथ विद्यमान हैं–

(1) तेरापंथ (2) बीसपंथ (3) तारणपंथ

तेरापंथ के अनुयायी पूजन-अभिषेक आदि अनुष्ठानों में सचित पदार्थ; जैसे–फूल, फल, दूध, दही, मिष्ठान्न इत्यादि का प्रयोग नहीं करते हैं, इसके विपरीत बीसपंथ के अनुयायी ऐसा करने में कोई हर्ज नहीं समझते। तारणपंथ के गुरु तारणस्वामी हुए। यह कुछ ही स्थानों तक सीमित है। इस परंपरा में मूर्तिपूजा के स्थान पर मंदिरों में शास्त्रपूजा का विधान है।

श्वेतांबर संप्रदाय और उसके भेद-प्रभेद

श्वेतांबर संप्रदाय भी प्रमुख तीन पंथों में विभक्त है–

(1) मूर्तिपूजक (2) स्थानकवासी (3) तेरापंथ

मूर्तिपूजक संप्रदाय में प्रायः साधु मुख पर पट्टी नहीं लगाते हैं। मंदिरों में चंदन, सचित्त पुष्पादि से पूजा-अभिषेक और प्रतिमाओं का श्रृंगार मूर्तिपूजक संप्रदाय में प्रचलित है। पूरे देश के, विशेषकर माउंट आबू, रणकपुर, पालीताना आदि तीर्थों के इनके जैन मंदिरों का उत्कृष्ट वास्तुकला सौंदर्य पूरे विश्व में प्रसिद्ध है। स्थानकवासी संप्रदाय में साधु मुख पर कपड़े की चौड़ी पट्टी लगाते हैं। यह परंपरा मंदिर एवं मूर्तिपूजा आदि पर विश्वास नहीं रखती। इनके मात्र स्थानक होते हैं। इसी प्रकार तेरापंथ के साधु भी मुख पर लंबी पट्टी लगाते हैं। मंदिर, मूर्तिपूजा आदि पर ये भी विश्वास नहीं रखते, किंतु कुछ सैद्धांतिक मतभेदों के कारण ये स्थानकवासी से अलग हैं।

सारा राष्ट्र जैन है

''केवल मैं ही नहीं सारा राष्ट्र जैन है, क्योंकि हमारा राष्ट्र अहिंसावादी है और जैन धर्म अहिंसा में विश्वास रखता है। जैन धर्म के आदर्श के रास्ते को हम नहीं छोड़ेंगे।''

–श्रीमती इंदिरा गाँधी

(फरवरी 1981, संसद में एक प्रश्न के उत्तर में जारी वक्तव्य)

3 जैन आगम साहित्य का इतिहास

विभिन्न भारतीय भाषाओं में विशाल जैन साहित्य उपलब्ध है। मूलतः प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा हिंदी भाषा में रचित दिगंबर तथा श्वेतांबर साहित्य इतना विशाल है कि जिसकी गणना करना बहुत कठिन कार्य होगा। जैन परंपरा में ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र एवं प्रत्येक विधा पर साहित्य लिखा गया है। प्रत्येक काल में उस समय की प्रचलित प्रायः सभी भाषाओं में जैन आचार्यों तथा जैन विद्वानों ने अपनी रचनात्मक लेखनी ज़रूर चलाई है। अतः जैन वाङ्‌यम इतना विशाल है कि उसका इतिहास लिखना कोई आसान कार्य नहीं है।

आज जो भी मूल जैन साहित्य आगम तथा आगमोतर के रूप में उपलब्ध है, उसका संबंध भगवान महावीर की उपदेश परंपरा से है। भगवान महावीर ने जो उपदेश दिया, उसे बारह अंग तथा चौदह पूर्व के नाम से जाना जाता है। उनके प्रधान शिष्य एवं प्रथम गणधर गौतमस्वामी ने इन पूरे उपदेशों को समवशरण सभा में भगवान से सुनकर ग्रहण किया था। गौतम गणधर ने यह ज्ञान अपने शिष्यों को दिया और इस प्रकार भगवान महावीर की उपदेशों से प्राप्त ज्ञान की परंपरा चलती रही। उस आगम ज्ञान को लिपिबद्ध नहीं किया जाता था अपितु श्रुत (श्रवण) परंपरा से आचार्य अपने शिष्यों को ज्ञान प्रदान करते थे और वे उसे सुनकर स्मृति पटल पर याद कर आगमों को सुरक्षित रखते थे। किंतु कालांतर में जब यह देखा गया कि स्मृति-क्षीणता के कारण शिष्य-परंपरा भगवान के उपदेशों को भूलने लगी है, तब सामूहिक वाचनाओं के आधार पर उस आगम-ज्ञान को शास्त्रों (पुस्तकों) के रूप में लिपिबद्ध करने का उपक्रम प्रारंभ हुआ।

उपलब्ध दिगंबर आगम साहित्य

दिगंबर परंपरा में आचार्य धरसेन (ईसा पूर्व पहली शती) ने बचे हुए आगम ज्ञान को अपने दो शिष्यों आचार्य पुष्पदंत और भूतबली स्वामी को दिया, जिन्होंने 'षट्‌खंडागम' नाम के वृहद् सूत्रग्रंथ की रचना शौरसेनी प्राकृष भाषा में की। आचार्य गुणधर ने 'कसायपाहुड़' नामक आगम लिखकर ज्ञान को सुरक्षित रखने का प्रयास किया। इसके अनंतर यतिवृषभाचार्य ने 'तिलोयपण्णत्ति' तथा आचार्य कुंदकुंद ने 'समयसार' आदि पाँच परमागम तथा अन्य ग्रंथ शौरसेनी प्राकृत भाषा में रचकर और इसके बाद अन्यान्य आचार्यों ने भगवान महावीर के मूल आध्यात्मिक ज्ञान को सँजोने का प्रयास किया। दिगंबर परंपरा यह मानती है कि बारह अंगों में से ग्यारह अंग

विलुप्त हो गए हैं और बारहवाँ अंग दृष्टिवाद का कुछ अंश ही बच पाया है, जिसे षट्खंडागम तथा कसायपाहुड़ के रूप में आचार्यों ने सुरक्षित करके जैन परंपरा को अनमोल ज्ञाननिधि से संपन्न कर दिया है। आचार्य कुंदकुंद ने भी आगमज्ञान की परंपरा के आधार पर समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़, वारसअणुवेक्खा, भक्तिसंग्रह आदि ग्रंथों की रचना की। इनके अनंतर आचार्य शिवार्यकृत 'भगवती आराधना', आ० वट्टकेरकृत 'मूलाचार', आ० वसुनंदिकृत 'उवासयाज्झयणं', आ० नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्तीकृत 'गोम्मटसार', त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षपणासार, आ० कार्तिकेय कृत कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पद्मनंदि कृत जंबूद्दीवपण्णत्तिसंग्रहो तथा 'धम्मरसायण', देवसेनसूरीकृत लघुनयचक्र, आराधनासार, दर्शनसार, भावसंग्रह, तत्वसार, मुनि नेमिचंद्र सिद्धान्तिदेवकृत द्रव्यसंग्रह, माइल्लधवलकृत दव्वसहावपयास, पद्मसिंहमुनिकृत णाणसारो, श्रुतमुनिकृत 'भावत्रिभंगी' एवं 'आस्त्रवत्रिभंगी' आदि प्रमुख ग्रंथ शौरसेनी प्राकृत भाषा साहित्य के अनमोल रत्न हैं। इनके अतिरिक्त आचार्यों ने आगम सदृश चारों अनुयोगों का विशाल साहित्य संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तमिल, मराठी आदि अनेक भाषाओं में रचकर भारतीय वाङ्मय की श्रीवृद्धि की है।

श्वेतांबर आगम

श्वेतांबर साधुओं ने भगवान महावीर की वाणी को संकलित करने के लिए अलग-अलग समय एवं स्थानों में वाचनाएँ कीं। 'जिसे जो याद है उसे एकत्रित कर लिया जाए' इस उद्देश्य से उन्होंने तीन बड़े साधु सम्मेलन किए। अंतिम बल की वाचना रूप साधु सम्मेलन के उपरांत उन्होंने आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह अंगों में से ग्यारह अंगों को संकलित कर लेने में सफलता प्राप्ति की घोषणा की। उनके अनुसार आचारांग आदि ग्यारह मूल अंग आगम ग्रंथ आज तक सुरक्षित हैं और वे सभी अब उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं। इन मूल अंग आगमों के अतिरिक्त उपांग आगम, उत्तराध्ययन आदि मूलसूत्र, छेदसूत्र आदि तथा इन पर रचित भाष्य, निर्युक्ति आदि व्याख्याओं के रूप में विपुल अर्धमागधी प्राकृत आगम साहित्य श्वेतांबर परंपरा में आज भी विद्यमान हैं।

दिगंबर परंपरा ने इन उपलब्ध ग्यारह अंगों आदि के शत-प्रतिशत भगवान के मूल वचनों के होने में आशंका व्यक्त की और यह भी महसूस किया कि अपने मत की पुष्टि के लिए श्वेतांबरों ने इसमें ऐसे कई विषय संकलित कर दिए हैं जिनका स्पष्टतः भगवान महावीर की मूल वाणी से संबंध होना संभव नहीं लगता है। अतः उपलब्ध इन ग्यारह मूल अंगों और अन्य आगमों को दिगंबरों ने नहीं स्वीकारा, उनकी दृष्टि से मूल

आगम विलुप्त हो चुके हैं। श्वेतांबरों ने माना कि बारहवाँ दृष्टिवाद अंग वाचनाओं के समय किसी को याद न रहने के कारण उनकी स्मृति से छूट गया, अतः वे उसे संकलित नहीं कर पाए। जबकि दिगंबरों में इसी के कुछ अंश षट्खंडागम और कसायपाहुड़ के रूप में आज भी सुरक्षित हैं। श्वेतांबरों में मान्य सभी आगमों की भाषा अर्धमागधी प्राकृत है। जबकि दिगंबर परंपरा में आगमज्ञान के आधार पर उपलब्ध आगम साहित्य शौरसेनी प्राकृत भाषा में रचित है।

उपलब्ध विविध साहित्य

कालांतर में जैन आचार्यों तथा विद्वानों ने दर्शन, न्याय, साहित्य, कथा, छंद, अलंकार, व्याकरण, ज्योतिष, सिद्धांत, गणित, भूगोल, आयुर्वेद तथा और भी अन्यान्य विषयों पर विपुल साहित्य रचना करके उन-उन विषयों के साहित्य को खूब समृद्ध किया। जैनाचार्यों की गणित, ज्ञान-विज्ञान तथा चिकित्सा संबंधी कई खोजें भारतीय मनीषा को चमत्कृत कर देने वाली हैं।

इतने विशाल साहित्य भंडार में से बहुत कुछ साहित्य प्रकाशित होकर सामने आ चुका है किंतु बहुत सारा आज भी अपने संपादन तथा प्रकाशन की प्रतीक्षा में हस्तलिखित रूप में देश के अनेक शास्त्र-भंडारों में भरा पड़ा है। महत्वपूर्ण सभी ग्रंथों की विशाल सूची इस लघु परिचयात्मक पुस्तिका में देना संभव नहीं है। फिर भी कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों के नाम प्रस्तुत हैं।

जैन धर्म तथा दर्शन को पढ़ने तथा उसके हार्द को समझने की दृष्टि से अकसर लोग कुछ प्रमुख ग्रंथों तथा किताबों के नाम माँगते हैं। मैं यहाँ मात्र कुछ ही प्रमुख व सरल ग्रंथों का नाम दे रहा हूँ जिन्हें पूरी तरह पढ़ने पर जैन धर्म-दर्शन की मूल व सामान्य जानकारी सभी वर्ग के व्यक्तियों को हो सकती है। इन ग्रंथों को पूरा पढ़ने के बाद पाठक का प्रवेश जैन दर्शन में हो जाएगा तथा वह आगे और अधिक बड़े ग्रंथ पढ़ने की योग्यता को स्वतः निर्मित कर पाएगा।

प्रमुख आरंभिक मूल शास्त्र

(1) तत्वार्थसूत्र– आचार्य उमास्वामिकृत (प्रथम शती), संपादक– पं० फूलचंद्र सिद्धांतशास्त्री, प्रकाशक– श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी। यह ग्रंथ और भी अनेक संस्थानों से श्रेष्ठ विद्वानों के संपादन सहित प्रकाशित है।

(2) रत्नकरंडश्रावकाचार– समंतभद्राचार्य कृत (तृतीय शती), प्रकाशक– वीरसेवा मंदिर, दरियागंज, नई दिल्ली

(3) द्रव्यसंग्रह– नेमिचंद्र सिद्धांतिदेव मुनि कृत, प्रकाशक– परमश्रुत प्रभावक मंडल प्रकाशन, अगास (गुज०)

(4) परीक्षामुखसूत्र– आचार्य माणिक्यनंदि, प्रकाशक– टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर-15 इसकी प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमलमार्तंड आदि आचार्य प्रणीत अनेक वृहद्टीका भी अनेक संस्थानों में प्रकाशित हैं।

(5) आलापपद्धति– आचार्य देवसेन, प्रकाशक– वीरसेवा मंदिर, दरियागंज नई दिल्ली

(6) न्यायदीपिका– धर्मभूषणयति, प्रकाशक– वीरसेवा मंदिर दरियागंज, नई दिल्ली

(7) समणसुत्तं– (संकलित) क्षु० जिनेंद्र वर्णी (बीसवीं शती), प्रकाशक– सर्वसेवा संघ, राजघाट, वाराणसी

आधुनिक प्रमुख ग्रंथ

(1) जैन धर्म– पं० कैलाशचंद्र शास्त्री, प्रकाशक– श्री दिगंबर जैन संघ मथुरा तथा आचार्य शांति 'छाणी' स्मृति ग्रंथमाला, प्रथम तल, 247 दिल्ली रोड, मेरठ (उ०प्र०)। फ़ोन : 0121-2528704, 2533707

(2) जैन दर्शन– डॉ० महेंद्र कुमार न्यायाचार्य, प्रकाशक– गणेश प्रसाद वर्णी दि० जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी-5

(3) जैन धर्म और दर्शन– मुनि प्रमाणसागर जी, प्रकाशक– राजपाल एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली

(4) भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान– डॉ० हीरालाल जैन, प्रकाशक– मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद, भोपाल

(5) जैन दर्शन मनन और मीमांसा– आचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशक– आदर्श साहित्य संघ, चुरु (राज०)

(6) जैन धर्म का सरल परिचय– पं० बलभद्र जैन, प्रकाशक– कुंदकुंद भारती 18-बी, स्पेशल इंस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-67

(7) जैनधर्म-सार-संदेश– डॉ० काशीनाथ उपाध्याय, प्रकाशक– राधास्वामी सत्संग व्यास, डेरा बाबा जैमल सिंह, पंजाब-143204

कोश साहित्य

जैन दर्शन तथा संस्कृति के शब्दों, सिद्धांतों तथा व्याख्याओं को समझाने के लिए अत्यंत वैज्ञानिक रीति से तैयार 'जैनेंद्र सिद्धांत कोश' बहुत उपयोगी ग्रंथ है। इसके रचयिता क्षु० जिनेंद्र वर्णी जी हैं। इस महान कोश में अकारादि क्रम से संपूर्ण जैनागम को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली में पाँच भागों में हुआ है।

यदि हम भारत की इस प्राचीन संस्कृति के हार्द को समझना चाहते हैं और हमारा विश्वास इस बात पर है कि भारतीय संस्कृति को समझने के लिए दुराग्रह से हटकर हमें जैन धर्म-दर्शन तथा संस्कृति का अध्ययन करना चाहिए तो उसकी शुरूआत हम उपरोक्त ग्रंथों को पढ़कर कर सकते हैं।

▢▢

सिंधु घाटी और जैन धर्म

ऋग्वेद में ऋषभदेव का उल्लेख एक महापुरुष के रूप में मिलता है। ऋग्वेद वेदों का सबसे प्राचीन ग्रंथ है जिसकी रचना अधिकांश विद्वानों के अनुसार लगभग ईसा पूर्व 3000 मानी जाती है। सिंधु घाटी की सभ्यता वैदिक सभ्यता से पुरानी है। सिंधु घाटी के निवासियों की बोलचाल की भाषा संभवतः प्राकृत थी और उसी भाषा में वहाँ जैन धर्म का प्रचार था। ऐसा मानने पर ऋग्वेद द्वारा जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का उल्लेख किया जाना असंगत नहीं लगता। (जैनधर्म-सार संदेश पुस्तक के चयनित अंश)

–प्रो०(डॉ०) काशीनाथ उपाध्याय, अध्यक्ष-दर्शन विभाग,
हवाई विश्वविद्यालय अमेरिका, पृ० 25

4 जैन धर्म का प्रमुख मंत्र एवं प्रार्थना

यद्यपि जैन धर्म में अनेक उत्कृष्ट मंत्र और प्रार्थनाएँ हैं, किंतु एक मुख्य मंत्र ऐसा है जिसे जैन समाज का बच्चा-बच्चा याद रखता है और जपता है, उसका नाम है– 'णमोकार महामंत्र'। इसे हिंदी में नमस्कार महामंत्र कहते हैं। यह नमस्कार मंत्र बच्चे के जन्म होने के साथ ही सर्वप्रथम उसके कान में सुनाया जाता है। इस मंत्र से ही हज़ारों मंत्रों की उत्पत्ति हुई। प्राकृत भाषा के आर्या छंद में निबद्ध जैन धर्म का यह नमस्कार महामंत्र पूरे विश्व के इतिहास में एक ऐसा मंत्र; एक ऐसी प्रार्थना, वंदना या स्तुति है जिसका संबंध किसी व्यक्ति की पूजा से नहीं, अपितु गुणों की पूजा से है। व्यक्ति में विद्यमान गुणों की स्तुति के रूप में इस णमोकार मंत्र को दिगंबर, श्वेतांबर यहाँ तक कि जैन धर्म में स्नेह रखने वाले अन्य सभी जैनेतर बंधु भी अत्यंत श्रद्धापूर्वक बोलते हैं। सर्वप्रथम हम यहाँ इस मंत्र का उच्चारण करेंगे, फिर इसके अर्थ को समझेंगे। शुद्ध मंत्र है–

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्व-साहूणं

णमो अरिहंताणं

अर्थात् लोक के सभी अरिहंतों को नमस्कार। समस्त इंद्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले तथा ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अंतराय– इन चार (घातिया) कर्मों का नाश करके संपूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने वाले अरिहंत होते हैं। अब जिसने भी इस शुद्धता और परमात्म पद को प्राप्त किया हो, चाहे वे जिस नाम से भी हों उनको मेरा नमस्कार।

णमो सिद्धाणं

अर्थात् लोक के सभी सिद्धों को नमस्कार। जो समस्त आठों कर्मों का नाश करके, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत वीर्य और अनंत सुख को प्राप्त, शरीररहित निराकार सिद्धदशा को प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे लोक के ऊपर अग्रभाग में स्थित सभी सिद्धों को, चाहे वो जो भी हों उनको मेरा नमस्कार।

णमो आइरियाणं

अर्थात् लोक के सभी आचार्यों को नमस्कार। सम्यक् दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र रूप रत्नत्रय की प्रकर्षता के कारण जो साधु संघ के नायक हैं तथा समस्त मुनि संघ

और आर्यिका संघ को संयमाचरण के पथ पर निरंतर आगे बढ़ाने में प्रेरक हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। ऐसे उन सभी आचार्यों को, जो शुद्धाचरणपूर्वक धर्मवृद्धि तथा तपस्या में संलग्न हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ।

णमो उवज्झायाणं

अर्थात् लोक के सभी उपाध्यायों को मेरा नमस्कार। सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्रकर्षता से जो साधु आगम के ज्ञाता हैं तथा संघ में सभी संयमियों को आगम-शास्त्र पढ़ाने का कार्य करते हैं, वे उपाध्याय कहलाते हैं। इन अर्हताओं से संपन्न ऐसे ज्ञानी मुनियों को, वे चाहे जिस नाम से हों, मैं नमस्कार करता हूँ।

णमो लोए सव्व-साहूणं

अर्थात् लोक के सभी साधुओं को मेरा नमस्कार। ज्ञान, दर्शन और चारित्र का पालन करने वाले, अट्ठाईस मूलगुणों के धारी, जगत् के सभी प्रपंचों से मुक्त आत्म-कल्याण में संलग्न ऐसे राग-द्वेष से रहित वीतरागी पुरुष साधु कहलाते हैं। ऐसा पालन करने वाले लोक के सभी साधुओं को उनका नाम चाहे कुछ भी हो, मैं अंतर्मन से नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार यह पंच नमस्कार मंत्र सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक है। इसमें किसी व्यक्ति की आराधना करके उसे संकुचित नहीं किया गया है बल्कि गुणों की आराधना करके उसे व्यापकता प्रदान की गई है। इस णमोकार मंत्र का उल्लेख पहली शताब्दी के आचार्य पुष्पदंत भूतबली द्वारा रचित षट्खंडागम नामक शौरसेनी प्राकृत आगम-शास्त्र में हमें सर्वप्रथम मिलता है। भुवनेश्वर (ओडिशा) के निकट उदयगिरि खंडगिरि में ईसा पूर्व तृतीय शती में कलिंग सम्राट खारवेल द्वारा हाथीगुंफा शिलालेख में भी इस मंत्र के आरंभिक अंशों का उल्लेख है। इस सर्व सिद्धिदायक महामंत्र की विशेषता है कि इसको श्रद्धापूर्वक पढ़ने व जाप करने से समस्त पापों एवं बुराइयों का नाश स्वतः हो जाता है; मन तनावमुक्त हो जाता है; सभी कष्ट एवं विघ्न दूर हो जाते हैं। यह पंच नमस्कार मंत्र सारे पापों का नाश करने वाला है। इस मंत्र को सभी मंगलों में प्रथम मंगल कहा जाता है, इसलिए इस मंत्र के आगे इसका महात्म्य कहा जाता है–

एसो पंच णमोक्कारो, सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं होदि मंगलं॥

प्रार्थना

जैन धर्म में भक्ति एवं स्तोत्र साहित्य भी बहुत विशाल है। प्राचीन काल में प्रार्थनाएँ प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा विभिन्न लोक भाषाओं में की जाती थीं। अपभ्रंश भाषा में भी भगवान की स्तुतियाँ की गई हैं। पुरानी हिंदी और अलग-अलग प्रदेश की भाषाओं में स्तुति, भक्ति तथा प्रार्थना पूरे देश में पढ़ी जाती रही है। आधुनिक हिंदी में

आज अनेक प्रार्थनाएँ, भजन, आरती बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें से पं० जुगलकिशोर मुख्तार कृत 'मेरी भावना' नाम से प्रसिद्ध एक सर्वव्यापक तथा प्रसिद्ध प्रार्थना यहाँ प्रस्तुत है। इसे स्मरण करके तथा इसके अर्थ को समझकर कोई भी मनुष्य इससे उत्पन्न आनंद को प्राप्त कर सकता है। यह एक सच्चे श्रद्धालु भक्त की भावना है–

मेरी भावना

जिसने राग द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया,
सब जीवों को मोक्षमार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध, वीर, जिन, हरि, हर, ब्रह्मा या उसको स्वाधीन कहो,
भक्ति-भाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो।।

विषयों की आशा नहिं जिनके साम्य-भाव धन रखते हैं,
निज-पर के हित-साधन में जो निश-दिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या बिना खेद जो करते हैं,
ऐसे ज्ञानी साधु जगत् के दुःख-समूह को हरते हैं।।

रहे सदा सत्संग उन्हीं का ध्यान उन्हीं का नित्य रहे,
उन्हीं जैसी चर्य्या में यह चित्त सदा अनुरक्त रहे।
नहीं सताऊँ किसी जीव को झूठ कभी नहिं कहा करूँ,
परधन वनिता पर न लुभाऊँ संतोषामृत पिया करूँ।।

अहंकार का भाव न रक्खूँ नहीं किसी पर क्रोध करूँ,
देख दूसरों की बढ़ती को कभी न ईर्ष्या-भाव धरूँ।
रहे भावना ऐसी मेरी सरल-सरल व्यवहार करूँ,
बने जहाँ तक इस जीवन में औरों का उपकार करूँ।।

मैत्री भाव जगत् में मेरा सब जीवों से नित्य रहे,
दीन-दुःखी जीवों पर मेरे उर से करुणास्रोत बहे।
दुर्जन, क्रूर-कुमार्गरतों पर क्षोभ नहीं मुझको आवे,
साम्य भाव रक्खूँ मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे।।

गुणीजनों को देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे,
बने जहाँ तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे।
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं द्रोह न मेरे उर आवे,
गुण-ग्रहण का भाव रहे नित दृष्टि न दोषों पर जावे।।

कोई बुरा कहो या अच्छा लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे।
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे,
तो भी न्याय मार्ग से मेरा कभी न पग डिगने पावे।।

होकर सुख में मग्न न फूलें दुःख में कभी न घबरावें,
पर्वत-नदी शमशान-भयानक अटवी से नहिं भय खावें।
रहे अडोल अकंप निरंतर यह मन दृढ़तर बन जावे,
इष्ट वियोग अनिष्ट योग में सहनशीलता दिखलावे।।

सुखी रहें सब जीव जगत् के कोई कभी न घबरावे,
बैर-पाप अभिमान छोड़ जग नित्य नए मंगल गावे।
घर-घर चर्चा रहे धर्म की दुष्कृत दुष्कर हो जावे,
ज्ञान-चरित उन्नत कर अपना मनुज जन्म-फल सब पावें।।

ईति भीति व्यापे नहिं जग में वृष्टि समय पर हुआ करे,
धर्मनिष्ठ होकर राजा भी न्याय प्रजा का किया करे।
रोग, मरी, दुर्भिक्ष न फैले प्रजा शांति से जिया करे,
परम अहिंसा धर्म जगत् में फैल सर्वहित किया करे।।

फैले प्रेम परस्पर जग में मोह दूर पर रहा करे,
अप्रिय-कटुक-कठोर शब्द नहिं कोई मुख से कहा करे।
बनकर सब 'युग-वीर' हृदय से देशोन्नति रत रहा करें,
वस्तु-स्वरूप-विचार खुशी से सब दुःख संकट सहा करें।।

आत्म-कीर्तन

सहजानंदी शुद्ध स्वभावी, अविनाशी मैं आत्मस्वरूप।
ज्ञानानंदी पूर्ण निराकुल, सदा प्रकाशित मेरा रूप।।
स्व-पर प्रकाशी ज्ञान हमारा, चिदानंद धन प्राण हमारा।
स्वयं ज्योति सुखधाम हमारा, रहे अटल यह ध्यान हमारा।।
देख मरे से मैं नहि मरता, अजर अमर हूँ आत्मस्वरूप।
देव हमारे श्री अरहंत, गुरु हमारे निर्ग्रंथ संत।।
निज की शरणा लेकर हम भी, प्रकट कर परमातम रूप।
सप्त तत्व का निर्णय कर ले, स्व-पर भेद विज्ञान सु कर ले।।
निज स्वभाव दृष्टि में धर ले, राग-द्वेष सब ही परिहर लें।
बस अभेद में तन्मय होवें, भूलें सब ही भेद विरूप।।

आत्मचितंन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता दृष्टा आतमराम।। टेक।।
मैं वह हूँ जो है भगवान, जो मैं हूँ वह है भगवान।
अंतर यही ऊपरी जान, वे विराग यहाँ राग वितान।।1 ।।
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुखज्ञान निधान।

किंतु आशवाश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।।2।।
सुख-दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुःख की खान।
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान।।3।।
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिनके नाम।
राग त्याग पहुँचे निज धाम, आकुलता का फिर क्या काम।।4।।
होता स्वयं जगत् परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानंद' रहूँ अभिराम।।5।।

▢▢

डॉ० परिपूर्णानंद वर्मा के विचार

"मेरा विश्वास है कि बिना हिंदू बने जैनी श्रेष्ठ जैनी बन सकता है, पर बिना जैन-आचार-संहिता को अपनाए मैं अच्छा हिंदू नहीं बन सकता। हमने जैन धर्म से उसका अध्यात्मवाद लेकर अपने विशाल धर्म को विशालतम बना लिया है। जैनियों ने इससे कर्मकांड लेकर अपने को कुछ आगे बढ़ाया– ऐसा मैं नहीं मानता।"

–वर्धमान महावीर स्मृति ग्रंथ-2002,
जैन मित्र मंडल, दिल्ली से प्रकाशित

षड्द्रव्य एवं विश्व-व्यवस्था

जैन धर्म के अनुसार विश्व को किसी ने नहीं बनाया और न ही कोई इसका संहार (विनाश) करने में समर्थ है। यह सृष्टि हमेशा से है और हमेशा रहेगी। ईश्वर ही सब कुछ चला रहा है –जैसी अवैज्ञानिक बातों पर जैन धर्म विश्वास नहीं करता है। जैन धर्म के अनुसार इस विश्व का निर्माण छह द्रव्यों से मिलकर स्वतः ही हुआ है। प्रत्येक द्रव्य स्वाधीन है। द्रव्य अविनाशी है। उसकी सिर्फ़ अवस्था (पर्याय) बदलती है। स्वयं परिवर्तित होकर दूसरे द्रव्य रूप नहीं होता; तथा दृष्टि से वह नित्य है। जैन धर्म में द्रव्य मीमांसा बहुत सूक्ष्म है। इसका गहराई से अध्ययन करने पर कई नए रहस्यों का उद्घाटन होता है। आचार्य कुंदकुंद का पंचास्तिकाय तथा आचार्य नेमिचंद्र मुनि का द्रव्यसंग्रह आदि नामक ऐसे प्रमुख ग्रंथ हैं जिनमें छह द्रव्यों के बारे में अच्छी जानकारी मिल जाती है। यहाँ हम छह द्रव्यों से युक्त विश्व के बारे में सामान्य जानकारी लेंगे।

द्रव्य का लक्षण

'सत् द्रव्यलक्षणम्' कहकर सत् (सत्ता) को द्रव्य का लक्षण माना गया है। सत्ता का अर्थ होता है– 'अस्तित्व'। द्रव्य का सामान्य लक्षण सत् इसलिए किया गया कि जितने भी द्रव्य तथा उनके भेद-प्रभेद हैं, उनके विशेष लक्षण अलग-अलग हो सकते हैं। इसलिए उनमें एक ऐसा लक्षण बने जो सभी द्रव्यों में समान रूप से रहे ही रहे। इसलिए 'अस्तित्व' को द्रव्य का सामान्य लक्षण बनाया जिसका इस जगत् में कोई अस्तित्व ही नहीं है, वह द्रव्य हो ही नहीं सकता।

'सत्' क्या है?

'सत्' अर्थात् सत्ता, इसका अर्थ अस्तित्व है जो हम बता चुके हैं किंतु इस 'सत्' की भी तो कोई परिभाषा होनी चाहिए। 'सत्' की एक वैज्ञानिक परिभाषा आचार्य उमास्वामी ने तत्वार्थ सूत्र में प्रस्तुत की– 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्', अर्थात् 'सत्' उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यता से युक्त होता है।

इस बात को हमें एक उदाहरण से समझना होगा। जैसे सोना (स्वर्ण) एक द्रव्य है। उसका हार भी बनता है। अँगूठी भी बनती है। एक सुनार ने सोने के हार को गलाकर उसी सोने से अँगूठी बना दी। यहाँ 'हार' का व्यय हुआ अर्थात् नाश हुआ और अँगूठी का उत्पाद हुआ अर्थात् उत्पत्ति हुई और इन दोनों की अवस्थाओं में सोना-सोना ही रहा अर्थात् वह धौव्य्र रहा। यहाँ स्वर्ण के स्वर्णत्व का नाश होकर वह चाँदी या पीतल द्रव्य रूप नहीं हुआ, बल्कि वह स्वयं नित्य अविनाशी यथावत् विद्यमान रहा।

इसी प्रकार विश्व का प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। जो (स्वरूपतः) मूलरूप में कभी नष्ट नहीं होता। बस उसकी अवस्था या पर्याय बदलती रहती है।

द्रव्य के भेद

प्रमुख रूप से संपूर्ण सृष्टि में दो प्रकार के द्रव्य पाए जाते हैं–

(1) जीव (2) अजीव (जड़)

अजीव द्रव्य के पाँच भेद हैं–

(1) पुद्गल (2) धर्म (3) अधर्म (4) आकाश (5) काल

इस प्रकार एक जीव तथा पाँच अजीव द्रव्य मिलाकर कहा गया– **'षड्द्रव्यात्मको लोकः'**। अर्थात् यह संपूर्ण सृष्टि (लोक) या विश्व इन्हीं छह द्रव्यों से बना है। इन छह द्रव्यों के अलावा सातवाँ कोई द्रव्य इस विश्व में नहीं है। इनके अतिरिक्त यदि किसी भी द्रव्य का उल्लेख किया जाएगा तो उसका अंतर्भाव इन छह द्रव्यों में से किसी एक में अवश्य हो जाएगा।

जीवद्रव्य

जो ज्ञान दर्शन स्वभाव वाला चेतना से युक्त है, वह जीव है। पेड़-पौधों से लेकर स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत (कान) इन पाँच इंद्रियों वाले मनुष्यों तक सभी जीव हैं। जैन धर्म में इस लोक में रहने वाले छोटे-बड़े सभी जीवों के जितनी सूक्ष्मता से भेद-प्रभेद बताए गए हैं और उनकी वैज्ञानिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं, उतनी शायद ही किसी अन्य धर्म में की गई हों। जीव-विज्ञान की सभी शाखाओं के बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी करोड़ों वर्ष प्राचीन जैन धर्म की इन जीव संबंधी अवधारणाओं को पढ़कर आश्चर्यचकित हैं। जो खोज वे उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में कर पाए; या इक्कीसवीं सदी में कर पाएँगे उसकी जानकारी जैनाचायों को आरंभ से ही थी। प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक जगदीशचंद्र बसु ने बीसवीं शती के आरंभ में खोज की कि पेड़-पौधों आदि सभी वनस्पतियों में जीवन है। किंतु जैनों को यह सुनकर आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि वह हमेशा से ही वनस्पति को सजीव मानते आए हैं और इन कायिक जीवों की हिंसा से बचने का प्रयास करते आए हैं। इसलिए संपूर्ण वनस्पति तो एकेंद्रिय जीव है ही, पानी, वायु, आग और पृथ्वी भी एकेंद्रिय जीव हैं– इसलिए यह जैन धर्म के लिए कोई नया अनुसंधान नहीं है।

जीव के भेद

सबसे पहले 'संसारी और मुक्त कहकर जीव के दो भेद किए गए हैं। फिर पुनः समझाने की दृष्टि से संसारी जीवों के इंद्रियों की संख्या के आधार पर जैनाचार्यों ने दो प्रमुख भेद किए–

(i) त्रस (ii) स्थावर

(i) त्रस– दो इंद्रिय से लेकर पाँच इंद्रिय तक के सभी जीवों को **त्रस जीव** माना गया है; जैसे– **द्वि-इंद्रिय जीव** उन्हें कहते हैं जिनके पास स्पर्शन और रसना ये दो इंद्रियाँ हैं। वे जीव हैं– चावल जैसे अनाज में रहने वाले जीव, सजीव शंख इत्यादि। स्पर्शन, रसना और घ्राण –ये तीन इंद्रियाँ जिनके रहती हैं, वे **त्रि-इंद्रिय जीव** कहलाते हैं। त्रि-इंद्रिय जीव ये हैं– चींटी, खटमल, बिच्छु। स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु –ये चार इंद्रियाँ जिस जीव की होती हैं, उन्हें **चतुरिंद्रिय जीव** कहते हैं; जैसे– भौंरा, मक्खी आदि। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा कर्ण, ये पाँचों इंद्रियाँ जिनके होती हैं, वे **पंचेंद्रिय जीव** कहलाते हैं; जैसे– मनुष्य जाति तथा गाय, बैल, हाथी, सिंह, हरिण इत्यादि तिर्यंच जीव।

(ii) स्थावर– इसमें स्थावर कायिक वे जीव हैं जिनके पास मात्र 'स्पर्श' नामक की एक इंद्रिय ही है। वे पाँच प्रकार के हैं– पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। यहाँ कायिक का अर्थ शरीर है। इस प्रकार यहाँ तक जीवद्रव्य का संक्षिप्त विवेचन किया गया।

2. पुद्गल द्रव्य

जो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से युक्त हो, उसे पुद्गल (Matter) कहते हैं। पुद्गल द्रव्य की विस्तृत विवेचना की जाए तो आधुनिक परमाणु विज्ञान के अनेक रहस्यात्मक तथ्यों का उद्घाटन होता है। वर्तमान में आधुनिक विज्ञान तथा जैन दर्शन में परमाणु विज्ञान पर कई महत्वपूर्ण तुलनात्मक अनुसंधान कार्य हुए हैं तथा कई चल रहे हैं।

3. धर्म द्रव्य

यहाँ धर्म शब्द से तात्पर्य जैन, बौद्ध, हिंदू, ईसाई धर्म से नहीं है बल्कि यह एक द्रव्य है। यह एक व्यापक तथा अदृश्य रूप से पूरे लोक में रहता है। यह द्रव्य स्वयं गमन करते हुए जीवों और पुद्गलों की गति में सहायता करता है। जिस प्रकार मछली स्वयं चलती है। किंतु पानी उसे उदासीन प्रेरक के रूप में चलने में सहायता प्रदान करता है। उसी प्रकार धर्म द्रव्य हमारे आस-पास अदृश्य रूप से पूरे लोक में विद्यमान हैं और उसी के उपकार से हम सभी गति (गमन) की क्रिया कर पाते हैं।

4. अधर्म द्रव्य

जिस प्रकार धर्म द्रव्य गमन में सहायक है उसी प्रकार अधर्म द्रव्य हमारे ठहरने (स्थिति) में सहायक होता है। यह भी एक, व्यापक व अदृश्य रूप से सभी जगह विद्यमान है। यह भी उदासीन प्रेरक की तरह है। स्वयं ठहरे अथवा रुके हुए जीव तथा पुद्गलों की स्थिति (ठहरने) में सहायक है। यह अधर्म द्रव्य न हो, तो सभी चलते ही रहें, रुकने जैसी क्रिया ही न हो। अतः हमारा ठहराव अधर्म द्रव्य का उपकार है।

5. आकाश द्रव्य

जो शेष सभी द्रव्यों को रहने के लिए जगह देता है, वह आकाश द्रव्य कहलाता है। यह लोक तथा अलोक दोनों जगह एक अखंड रूप से विद्यमान है।

6. काल द्रव्य

जैन धर्म में काल को भी निश्चय कालाणु के रूप में द्रव्य माना गया है। यह वर्तना अर्थात् परिवर्तन में सहायक है। वर्तना ही इसका लक्षण है। इसके उपकार से ही हम भूत, वर्तमान और भविष्य काल की भेद-रेखा खींच पाते हैं। सैकेंड, मिनट, घंटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, माह, वर्ष इत्यादि काल गणना का व्यवहार भी काल द्रव्य के कारण माना जाता है।

इस प्रकार इन छह द्रव्यों से मिलकर इस संपूर्ण ब्रह्मांड, सृष्टि या विश्व की रचना स्वतः ही हुई है। जैन धर्म इस बात पर विश्वास नहीं करता कि इस सृष्टि की रचना किसी ने की है। कोई भी व्यक्ति या भगवान न ही सृष्टि की रचना करने का कार्य करता है, न ही उसका पालनहार है और न ही इसे नष्ट करने की सामर्थ्य ही किसी ईश्वरादि के पास है। यह सब कुछ प्राकृतिक है। इनका परिणाम स्वतः होता है। इस तरह जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल– इन छह द्रव्यों में से अंतिम काल द्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय अर्थात् बहुप्रदेशी कहलाते हैं।

▢▢

जैन धर्म के प्रवर्तक

प्रमाण उपलब्ध हैं जो बताते हैं कि बहुत पहले से ही, प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व से ही ऐसे लोग थे जो ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर की उपासना करते थे। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं कि वर्धमान तथा पार्श्वनाथ के पूर्व से ही जैन धर्म प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभ, अजितनाथ एवं अरिष्टनेमि तीन तीर्थंकरों के नाम उल्लिखित हैं। भागवद् पुराण इस विचार का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैन धर्म के प्रवर्तक थे।

–डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, पूर्व राष्ट्रपति
इंडियन फिलोसफी : प्रथमखंड – पृ० 287

रत्नत्रय और मोक्षमार्ग

संसार में संसार से मुक्ति के लिए अनेक तरह के उपाय लगभग सभी धर्म बतलाते हैं। सभी आस्तिक दर्शनों की मान्यता है कि यह संसार ही दुःख का कारण है और इस जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त होकर ही परम सुखी हुआ जा सकता है। इसके लिए कोई कहता है श्रद्धा और भक्ति के माध्यम से ही मुक्ति मिलती है। कोई कहता है कि बिना ज्ञान प्राप्त किए मुक्ति नहीं मिल सकती। इससे भिन्न कोई यह मानता है कि कठोर तप-आचरण करने से ही मोक्ष मिलता है। इस तरह मोक्ष-प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के मत सामने आते हैं।

दूसरे पद में जैन धर्म एक नया चिंतन देता है। वह कहता है कि सिर्फ़ श्रद्धा, सिर्फ़ सम्यक् श्रद्धा, सिर्फ़ ज्ञान या आचरण से मोक्ष नहीं मिलता। किसी को सिर्फ़ श्रद्धा हो तथा उसका ज्ञान और आचरण सही न हो तो वह मोक्ष का अधिकारी नहीं है। इसी तरह ज्ञान तो हो मगर श्रद्धा और आचरण न हो तो वह मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता। मात्र आचरण हो, श्रद्धा और ज्ञान का अभाव हो तो वो भी सफल नहीं होगा। बल्कि ये तीनों जब सही (सम्यक्) रूप में जीवन में उतरेंगे तभी जीवन की सार्थकता होगी और मोक्ष प्राप्त होगा।

सही श्रद्धा, ज्ञान और आचरण इन तीनों के योग से ही मोक्षमार्ग बनता है। एक प्रसिद्ध सूत्र है जिसे आचार्य उमास्वामी ने अपने ग्रंथ तत्वार्थसूत्र में सबसे पहले लिखा है–

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'

यहाँ सम्यक् सच्चे के अर्थ में है। दर्शन का अर्थ श्रद्धा है। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र हों तो सच्चे हों, सही हों। गलत श्रद्धा, विपरीत ज्ञान और मिथ्या चारित्र संसार में भटका देते हैं, इसलिए सावधानी भी रखनी आवश्यक है।

जिस प्रकार अस्वस्थ होने पर सही वैद्य के प्रति सच्ची श्रद्धा, सही दवा का ज्ञान तथा उस दवा का सही विधि से सेवन करने से ही रोग दूर होता है उसी प्रकार सम्यक् दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र इन तीनों को जीवन में उतारने से भव-रोग दूर होता है और मोक्ष सुख मिलता है।

सम्यग्दर्शन

वीतराग देव, वीतरागता के उपदेशक शास्त्र और वीतरागी साधु इन तीनों पर ही इतनी दृढ़ श्रद्धा रखना व्यवहार से सम्यग्दर्शन कहलाता है। तत्वों के प्रति सच्चा श्रद्धान, आत्मा के प्रति आस्था तथा स्व-पर का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन से युक्त सम्यग्दृष्टि मनुष्य का जीवन अलग तरह का होता है। वह अन्य संसारी जीवों की तरह पदार्थों में आसक्ति नहीं रखता। वह संसार में रहते हुए भी संसार से भिन्न रहता है, जैसे कीचड़ में खिलने वाला कमल उसमें रहकर भी उससे भिन्न रहता है।

सम्यक् ज्ञान

पदार्थ को जैसा वह है वैसा ही जानना सम्यक् ज्ञान है। सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यक् ज्ञान भी होता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष ये इसके दो भेद हैं। जो ज्ञान इंद्रियों के अधीन है वह ज्ञान परोक्ष ज्ञान है; जैसे– मतिज्ञान और श्रुतज्ञान तथा जो ज्ञान इंद्रियों की सहायता के बिना सीधे आत्मा से जाना जाता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं; जैसे– अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। प्रमाण और नय के माध्यम से सही जानकारी होती है। सम्यक् ज्ञान को प्रमाण कहते हैं और प्रमाण के एक अंश को नय कहते हैं।

सम्यक् चारित्र

साधना का तीसरा सोपान सम्यक् चारित्र है अर्थात् सही आचरण। सभी राग-द्वेष भावों को छोड़कर साम्य भाव से एक मात्र अपनी शुद्धात्मा में रहना निश्चय चारित्र है और इसकी प्राप्ति के लिए व्रत, उपवास तथा ध्यान-योग करना व्यवहार चारित्र है। सभी आचारगत नियमों का पालन करना और धर्मानुसार आचरण करना भी व्यवहार से सम्यक् चारित्र कहा जाता है।

इस प्रकार इन तीनों की प्राप्ति से ही जीव मुक्त हो पाता है। चूँकि ये अनमोल हैं इसलिए इन्हें रत्न कहा जाता है और तीन हैं इसलिए 'रत्नत्रय' के रूप में ये विख्यात हैं।

▢▢

अधूरी इच्छा

"संस्कृत-साहित्य का इतिहास तथा विविध ग्रंथों के लेखन-कार्य के समय मुझे जैन धर्म, दर्शन, साहित्य और इसके इतिहास के गहन अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इन सबके अध्ययन से जैन धर्म के प्रति मेरा काफ़ी लगाव रहा और प्रभावित रहा हूँ। मेरे द्वारा लिखित अन्य ग्रंथों की तरह जैन धर्म-दर्शन और साहित्य के इतिहास तथा विवेचन से संबंधित स्वतंत्र ग्रंथ लिखने की प्रबल भावना रही, मन में इसकी पूरी रूपरेखा भी रही; किंतु अन्यान्य-लेखन में व्यस्तता के चलते यह इच्छा अधूरी ही रही।"

–पद्म भूषण पं० बलदेव उपाध्याय, प्राकृत विद्या : वर्ष 13, अंक 4, पृ० 32

7 सप्त तत्व और मुक्ति की विधि

जिस प्रकार रोगी मनुष्य को रोग से मुक्ति पाने के लिए रोग और रोग के कारण पर विचार करना ज़रूरी है, उसी प्रकार संसार रूपी रोग से मुक्ति के लिए संसार और उसके कारणों पर विचार करना आवश्यक है। संसार ही दुःख का कारण है इसलिए जैनाचार्यों ने कहा कि यह जानना बहुत ज़रूरी है कि–

1. दुःख किसे मिल रहा है?
2. दुःख किससे मिल रहा है?
3. दुःख का कारण क्या है?
4. दुःख बढ़ता कैसे है?
5. दुःख को रोका कैसे जाए?
6. दुःख दूर कैसे हो?
7. दुःख से मुक्त अवस्था कैसी है?

इन प्रश्नों का उत्तर जैन दर्शन में सात तत्वों के माध्यम से दिया गया है। तत्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय में ही सात तत्वों का वर्णन है–

'जीवाजीवास्त्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम्।

ये सात तत्व मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के कारण हैं। इन सात तत्वों पर सच्चा श्रद्धान किए बिना मनुष्य मोक्षमार्ग की पहली सीढ़ी पर भी नहीं चढ़ सकता। कहा गया है 'तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् तत्वों के प्रति सच्चा श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। ये सात तत्व निम्न प्रकार से हैं–

(1) जीव– ज्ञान दर्शन स्वभावी तथा चेतना से युक्त तत्व जीव कहलाता है। यह संसारी और मुक्त के भेद से दो प्रकार के होते हैं। यही जीव संसार में भटककर दुःखी हो रहा है।

(2) अजीव– जिसमें ज्ञान, दर्शन और चेतना न पाई जाए, ऐसे तत्व अजीव होते हैं। इन्हीं अजीवों के संसर्ग से जीव दुःख पाता है।

(3) आस्त्रव– आत्मा में कर्मों का आना ही आस्त्रव तत्व कहलाता है। हमारे आस-पास फैले सूक्ष्म पुद्गल-परमाणु हमारे भावों के निमित्त पाकर कर्म रूप होकर हमारी आत्मा में आते रहते हैं। इनके इसी आने को आस्त्रव कहते हैं। जैसे नदी में नाव ले जाने पर यदि उसमें छेद हो तो पानी अंदर आता है; यही आना आस्त्रव है। इसमें मन, वाणी और शरीर की क्रिया कारण होती है। यदि मन, वाणी और शरीर क्रिया करते हैं तो आत्मा में शुभ कर्म आते हैं और यदि मन, वाणी और शरीर शुभ क्रिया

करते हैं तो आत्मा में शुभ कर्म आते हैं। यदि अशुभ क्रिया करते हैं तो अशुभ कर्म आते हैं। इन्हें ही शुभ आस्रव तथा अशुभ आस्रव कहते हैं।

(4) बंध– आस्रव के बाद कर्म आत्मा में ही ठहर जाते हैं, उनका यह ठहरना (इकट्ठा होना) बंध है; जैसे नाव में पानी एकत्रित हो जाता है। इसी बंध से दुःख बढ़ता है। अतः यह भी दुःख का कारण है।

(5) संवर– आत्मा में कर्मों का आना रुक जाए ऐसा उपाय करना संवर तत्व है; जैसे– नाव में पानी न आए, अतः छेद को बंद कर देना। अतः आस्रव को रोकना ही संवर है। यह दुःख रोकने का पहला उपाय है।

(6) निर्जरा– आत्मा में जो कर्म ठहर (इकट्ठे हो) गए थे, तपस्या के द्वारा उनका क्रमशः क्षय करना ही निर्जरा है; जैसे– छेद बंद करने के बाद नाव में जो पानी ठहरा हुआ है, उसको उलीचकर बाहर फेंकना। यह दुःख दूर करने का उपाय है।

(7) मोक्ष– जब सारे ही कर्मों का नाश हो जाए और आत्मा स्वच्छ, शुद्ध व निर्मल हो जाए तब वह संपूर्ण कर्मों से मुक्त हो जाती है, इसे ही मोक्ष कहते हैं। एक बार पूर्ण कर्मों की समाप्ति के बाद जीव मोक्ष प्राप्त कर लेता है तब पुनः कभी संसार में पुनः जन्म नहीं लेता। अवतार भी धारण नहीं करता। जन्म-मरण से सदा के लिए छुटकारा मिल जाता है। इसलिए सच्ची मुक्ति (मोक्ष) यही है।

इन सात तत्वों में जैन दर्शन का सार निहित है। संपूर्ण शास्त्रों का ज्ञान होने पर भी यदि इन सात तत्वों का श्रद्धान और ज्ञान इनका आचार नहीं है तो मुक्ति असंभव है।

ये सात तत्व मनुष्य को मुक्त होने के लिए रास्ता दिखलाते हैं। इन सात तत्वों पर सच्चा श्रद्धान करने से ही मोक्षमार्ग की शुरूआत होती है। जैन दर्शन में मोक्ष-प्राप्ति के लिए यह प्रक्रिया बहुत वैज्ञानिक है। यहाँ आत्म-शुद्धि को बल दिया गया है। कोई भी तंत्र-मंत्र, गंडा-ताबीज, निरुद्देश्य कामना सहित कठोर तपस्या तथा और कोई दूसरा व्यक्ति भी हमें सच्चा मोक्ष सुख नहीं दे सकता। जो जीव स्वयं सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान पूर्वक संयम, साधना, तपश्चरणादि करता है, आत्मानुभूति रूप चारित्र को प्राप्त करता है तथा सभी कर्मों को स्वयं ही नष्ट करता है वो ही सच्चा अविनाशी मोक्ष सुख प्राप्त करता है। यह सब जीव के स्वयं के पुरुषार्थ से ही संभव है। ऐसा नहीं होता कि जप-तप आदि कोई और करे तथा यदि वो या मैं चाहूँ तो उसका फल मुझे मिल जाए। किसी चमत्कार से भी व्यक्ति को मोक्ष नहीं मिलता।

हम जानते हैं कि पूरी दुनिया में वे धर्म ज़्यादा लुभावने तथा जनता के प्रिय बन जाते हैं जो चमत्कार तथा सस्ते साधनों से मुक्ति की सिद्धि (मोक्ष-प्राप्ति) बतलाते हैं; किंतु जैन धर्म असत्य के आधार पर प्रचार-प्रसार या अपने धर्म के अनुयायियों की

संख्या बढ़ाने के पक्ष में कभी नहीं रहा। उसका विश्वास है वस्तु का जैसा स्वभाव है, यथार्थ सत्य है हम उसे वैसा ही बतलाएँगे, अब कोई इस बात को माने तो उसका स्वागत है, और न माने तो न माने। सिर्फ़ अपनी संख्या बढ़ाने के लिए हम सत्य का रास्ता नहीं छोड़ सकते। इसलिए जिन वीरों को आत्म-पुरुषार्थ के सिद्धांत पर विश्वास हुआ, उन्होंने ही जैन धर्म अपनाया। चमत्कार प्रिय लोगों को यह मार्ग कठिन दिखाई दिया। शायद यही कारण भी है कि जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या कम है।

▢▢

जैन दर्शन आस्तिक है

"दर्शनान्तरेषु जैनदर्शनं नास्तिकमिति प्रतिपादितमस्ति, तस्य च कारणं वेदानां प्रामाण्यस्वीकाराभाव एव। किन्त्वेतद्विषये 'नास्तिक' शब्दो न युज्यते। यतो हि 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (पा०सू० 4/4/30) इत्यनुसारं नास्ति दिष्टमिति मतिरस्ति यस्य स नास्तिक इत्येवार्थं शब्दोऽयं कथयति, तदनुसारं च परलोकसत्तां स्वीकुर्वाणा आस्तिका अन्ये च नास्तिका इति वक्तुं युज्यते। जैनदर्शनं तद्विषये नास्ति मौनभाक्। अतो नास्ति नास्तिकं जैनदर्शनमित्येव साधीयः।"

—डॉ० मंडन मिश्र, कुलपति
(श्री महावीर परिनिर्वाण स्मृति ग्रंथ
खंड 3, पृ० 1, सन् 1975)

जैन धर्म

जैन धर्म मानव को ईश्वरत्व की ओर ले जाता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र के जरिए पुरुषार्थ से उसे परमात्म पद प्राप्त करा देता है। (वर्धमान महावीर स्मृति ग्रंथ-2002, दिल्ली)

—डॉ० मुहम्मद हाफिज

8 अणुव्रत : संयम साधना का शुभारंभ

जैन संस्कृति में व्रतों की अवधारणा अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है। यहाँ पर व्रत को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया गया है। एक है 'अणुव्रत' और दूसरा है 'महाव्रत'। अणुव्रत का अर्थ है– महाव्रत का आंशिक रूप से पालन या एकदेश पालन। चूँकि गृहस्थ जीवन में पूर्ण रूप से महाव्रतों का पालन संभव नहीं है, अतः उन्हीं महाव्रतों की बातों का जितनी शक्ति हो, उतना पालन करके गृहस्थ जीवन में साधना की जा सकती है। ये पाँच महाव्रत हैं–

(1) अहिंसा (2) सत्य (3) अचौर्य (4) ब्रह्मचर्य (5) अपरिग्रह

पाँच पाप

व्यक्ति अपने जीवन में पाँच प्रकार के पाप प्रमुख रूप से करता है– (1) हिंसा, (2) झूठ, (3) चोरी, (4) कुशील तथा (5) परिग्रह। इन्हीं पाँच पापों के निवृत्ति स्वरूप पाँच व्रतों की चर्चा की गई है। जब गृहस्थ इन पाँच पापों को यथाशक्ति छोड़ता है तब वह पाँचों अणुव्रतों का पालन करता है और जब वीतरागी साधु इन्हीं पाँच पापों को पूर्ण रूप से छोड़ते हैं तब वे महाव्रती कहलाते हैं।

श्रावक

जब हम गृहस्थ अवस्था में रहते हैं और अणुव्रतों का पालन करते हैं तब 'श्रावक' कहलाते हैं। श्रावक शब्द तीन अक्षरों के योग से बना है– 'श्र', 'व', और 'क'; इसमें 'श्र' श्रद्धा का, 'व' विवेक का तथा 'क' कर्तव्य का प्रतीक है। अर्थात् जो श्रद्धालु और विवेकी होने के साथ-साथ कर्तव्यनिष्ठ हो, वह 'श्रावक' कहलाता है। श्रावक को अणुव्रती, देशव्रती, सागार तथा उपासक आदि संज्ञाओं द्वारा भी पुकारा जाता है।

पाँच अणुव्रत

(1) अहिंसाणुव्रत– हिंसा के स्थूल त्याग को अहिंसाणुव्रत कहते हैं। अपने फ़ायदे के लिए किसी भी जीव का, चाहे वह मनुष्य हो अथवा पशु; मन, वचन और काय से दिल दुःखाना हिंसा है तथा प्रमाद के कारण किसी के जीवन को छीन लेना महाहिंसा है। शास्त्रों में स्थूल रूप से चार प्रकार की हिंसा का वर्णन है–

(i) आरंभी हिंसा– घर की सफ़ाई इत्यादि कार्य करने पर बचाने की लाख कोशिश करने पर भी जो छोटे-छोटे जीव मर जाते हैं, उसे **आरंभी हिंसा** कहते हैं।

(ii) उद्योगी हिंसा– आजीविका अर्जित करने के लिए कोई कृषि आदि अहिंसक कार्य करते समय बहुत बचाने पर भी जो जीवों की हिंसा हो जाती है, वह **उद्योगी हिंसा** है।

(iii) विरोधी हिंसा– अपने राष्ट्र, धर्म, परिवार या स्वयं पर कोई घातक हमला करे तब लाख रोकने की कोशिश करने पर भी मजबूरी में जो आत्म-दुश्मनों के प्रति आत्मरक्षा के भाव से हिंसा हो जाती है, वह **विरोधी हिंसा** कहलाती है।

(iv) संकल्पी हिंसा– उपरोक्त तीन प्रकार की हिंसाएँ गृहस्थ जीवन में हो ही जाती हैं, अतः अणुव्रती इनसे तो बच नहीं सकता। चतुर्थ संकल्पी हिंसा है जिसका अर्थ है कि पूर्व नियोजित रूप से स्वार्थ के लिए मन में संकल्पपूर्वक किसी को दुःख पहुँचाना या उसके प्राणों का हरण कर लेना। अणुव्रती गृहस्थ को कम से कम संकल्पी हिंसा का पूर्ण त्याग होता है। मांसाहार न करना तथा सदैव शुद्ध आहार लेना भी अहिंसाणुव्रत है।

'अहिंसा' जैन धर्म का प्राण है। कई बार जैन धर्म और अहिंसा धर्म को आपस में पर्यायवाची भी कहा जाता है। उसका कारण यह है कि अहिंसा की जितनी सूक्ष्म और गहरी व्याख्या जैन धर्म में है उतनी विश्व के किसी धर्म में नहीं है। विश्व के लगभग सभी धर्म अहिंसा को मानते हैं और उसकी व्याख्या अपने-अपने तरीके से करते हैं। **'अहिंसा परमो धर्मः'** वाक्य मूलतः महाभारत का है किंतु जैन धर्म ने इसे इस तरह अपनाया कि यह इसी का नारा बन गया है। मुझे यहाँ यह कहने से ज़रा भी संकोच नहीं है कि अन्य सभी धर्मों की अहिंसा की व्याख्या जहाँ समाप्त होती है, जैन धर्म की अहिंसा वहीं से प्रारंभ होती है।

स्थूल हिंसा को तो सभी धर्म हिंसा मानते ही हैं, किंतु आश्चर्य तब होता है जब जैन धर्म अन्य धर्मों की 'अहिंसा' में भी 'हिंसा' समझा देता है।

उदाहरण के तौर पर 'प्यार', 'मुहब्बत', 'इश्क' या 'राग' को कौन-सा धर्म है जो 'अहिंसा' न कहे। अहिंसा को समझाते समय इन्हीं तत्वों की व्याख्या की जाती है किंतु जैन धर्म की यह मौलिक खोज है कि 'द्वेष' का कारण 'राग' ही है, इसलिए 'राग' हिंसा की पहली सीढ़ी है। इसीलिए आपने देखा होगा कि जैन अपने भगवान को 'वीतरागी' कहते हैं, न कि 'वीतद्वेषी'। राग भाव में धर्म मानना जैन धर्म के अनुसार मिथ्यात्व है।

सुप्रसिद्ध जैनाचार्य अमृतचंद्र जी ने 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' नामक ग्रंथ में स्पष्ट लिखा है–

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिः हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।

अर्थात् आत्मा में राग-द्वेषादि की उत्पत्ति नहीं होना ही अहिंसा है और उनकी उत्पत्ति ही हिंसा है, ऐसा जिनागम का सार है। कहने का तात्पर्य यह है कि रागी मनुष्य कभी पूर्ण अहिंसक बन ही नहीं सकता, उसके लिए वीतरागी बनना आवश्यक है।

व्यावहारिक दृष्टि से अहिंसा को कई तरह से आचरण योग्य समझाया गया है। इसके लिए हिंसा को दो रूपों में विभाजित किया है–

(i) भाव हिंसा **(ii) द्रव्य हिंसा**

किसी को जान से मारने, सताने या दुःख देने का मन में विचार भी करना 'भाव हिंसा' है और किसी को जान से मार देना, सताना या दुःख पहुँचा देना, द्रव्य हिंसा है। अतः जैन धर्म के अनुसार किसी भी जीव को दुःख पहुँचाने, उसे सताने तथा उसके प्राण हरण कर लेने की बात मन में सोचनी तक नहीं चाहिए। मन में विचार मात्र लाने पर सर्वप्रथम हमारी आत्मा कलुषित होती है और यह सबसे बड़ी हिंसा है। हम भाव हिंसा से बचकर द्रव्य हिंसा से स्वतः बच सकते हैं। अतः हमें न हिंसा करनी चाहिए, न किसी और से करवानी चाहिए और न ही हिंसा का समर्थन करना चाहिए।

(2) सत्याणुव्रत– जीवन में सत्य का महत्व बहुत है। अतः अहिंसा के लिए सत्य का पालन भी करना चाहिए। चूँकि गृहस्थ जीवन में झूठ का पूर्ण त्याग संभव नहीं है, अतः गृहस्थ ऐसे झूठ का सर्वथा त्याग करता है जिसके कारण प्रतिष्ठा चली जाए, वह अप्रामाणिक बन जाए, वह राजदंड का भागी बन जाए या फिर जनता का अहित हो। झूठ बयान, नकली हस्ताक्षर, द्विअर्थी संवाद, चुगली, झूठा आरोप तथा दूसरों की निंदा इत्यादि करना झूठ के अंतर्गत ही आता है। गृहस्थ इन स्थूल झूठों का सर्वथा त्यागी होता है। गृहस्थ अपनी अहिंसा भावना की रक्षा के लिए जहाँ तक बन सके वहाँ तक हित-मित और प्रिय वचनों का ही प्रयोग करे, यही सत्याणुव्रत है।

(3) अचौर्याणुव्रत– जिस वस्तु पर हमारा अधिकार नहीं है उस पराई वस्तु को किसी से बिना पूछे ग्रहण कर लेना चोरी है। जब किसी की कोई चीज़ चोरी हो जाती है तब उसे बहुत मानसिक पीड़ा होती है। इससे अहिंसा भावना की रक्षा नहीं हो सकती। अतः चोरी का त्याग करना ही चाहिए। वर्तमान में जो भ्रष्टाचार व्याप्त है, घोटालों से दामन रँगे हुए हैं; रिश्वत का बोलबाला है, यह सब अचौर्याणुव्रत नहीं पालने के कारण है। कई बार खुद चोरी न कर चोरी का समर्थन करते हैं, विधि बतलाते हैं और दूसरों को चोरी के लिए उत्साहित करते हैं, यह सब दोषपूर्ण है। इससे खुद की शान नहीं बढ़ती बल्कि शांति भंग होती है। चोरी का माल खरीदना-बेचना, राजकीय नियमों का उल्लंघन करना, गलत नापना या तौलना, मिलावट करना –ये सब चोरी है। अचौर्याणुव्रत का पालन करने वाला इन सबसे दूर रहता है।

(4) ब्रह्मचर्याणुव्रत– मैथुन सेवन के त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं। गृहस्थावस्था में पूर्ण ब्रह्मचर्य संभव नहीं है। अतः वह धर्मानुसार विवाह करके धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ की पूर्ति कर सकता है। परस्त्री को देखकर मन में विकार न आना, स्वपत्नीसंतोषव्रत का पालन करना तथा पत्नी भी अपने पति के अतिरिक्त कहीं

मन न लगाए, यही ब्रह्मचर्याणुव्रत है। काम सेवन संबंधी सलाह या उपदेश देना, दूसरों के विवाह से ज़्यादा चिंता करना, काम की तीव्र लालसा करना, गंदे व अश्लील चित्र देखना, उपन्यास या कथाएँ पढ़ना, फ़िल्में देखना ये सब ब्रह्मचर्याणुव्रत में दोष हैं। आज के सामाजिक परिवेश में यौनाचार तथा अश्लीलता का जो खुला और खोखला रूप सामने आ रहा है तथा एड्स जैसे जानलेवा रोग फैल रहे हैं उस संदर्भ में ब्रह्मचर्याणुव्रत बहुत प्रासंगिक प्रतीत होता है।

(5) परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत– आसक्ति या मूर्छा को परिग्रह कहते हैं। मनुष्य अधिक से अधिक वस्तुएँ एकत्रित करना चाहता है। उसकी कोई सीमा नहीं है। ज़रूरत से अधिक वस्तुओं को एकत्रित करना तथा उसमें आसक्ति रखना परिग्रह है। यदि गहराई से देखा जाए तो शेष सभी पापों की जड़ भी यही है। अधिक धन-संपत्ति एकत्रित करने के लिए हिंसा, झूठ, चोरी तथा कुशील का सहारा लेना पड़ता है। सब कुछ एकत्रित करने के बाद भी, बेजान वस्तुओं, सुख-सुविधाओं के भंडार से घिरा व्यक्ति अंततोगत्वा खुद को तनहा ही पाता है। तनाव, चिंता और बीमारियों की जड़ परिग्रह है। चूँकि गृहस्थ पूर्ण रूप से अपरिग्रही तो हो नहीं सकता, किंतु आवश्यकता से अधिक भी एकत्रित नहीं करे। अधिक संग्रह नहीं करना चाहिए; दान देने के लिए भी संग्रह नहीं होना चाहिए। सीमित संसाधनों में रहने से अपनी आवश्यकता की पूर्ति तो हो ही जाती है दूसरों का अधिकार भी नहीं छिनता। समाज में समानता का वातावरण बना रहता है जिससे अपराध नहीं बढ़ते। अतः धन-धान्यादि वस्तुओं की सीमा निश्चित करना तथा उनमें भी कम आसक्ति रखना ही अपरिग्रहाणुव्रत है।

वर्तमान जीवन में एक बहुत बड़ी विडंबना है कि हम धार्मिक तो हो जाते हैं किंतु नैतिक नहीं हो पाते हैं। क्या नैतिकता के बिना धार्मिकता पूर्ण है? मेरी तो मान्यता है कि एक सामाजिक गृहस्थ मनुष्य के लिए जिस प्रकार वस्त्र पहनना ज़रूरी है उसी प्रकार नैतिक आचरण भी ज़रूरी है। धार्मिकता आभूषण है। नैतिकता के बिना धार्मिकता वैसी ही है जैसे वस्त्रों के बिना आभूषण। अणुव्रतों में धार्मिकता के साथ-साथ पूर्ण नैतिक बनने का भी उपदेश है। इसी कारण आज के सामाजिक परिदृश्य में अणुव्रत वे छोटे-छोटे व्रत हैं जिनका पालन करके राष्ट्र, समाज, परिवार तथा स्वयं व्यक्ति सुखी हो सकता है।

9 जैन दर्शन की रीढ़ : अनेकांत और स्याद्वाद

जैन धर्म तथा दर्शन में कई सिद्धांत हैं जो बहुत ही महत्वपूर्ण तथा उपयोगी हैं किंतु उन सभी सिद्धांतों में 'अनेकांत, स्याद्वाद एवं नयवाद' ये तीन ऐसे सिद्धांत हैं जिनमें शेष सभी सिद्धांतों का अंतर्भाव लगभग हो ही जाता है। इसलिए इन्हें समझना बहुत ज़रूरी है। ये सिद्धांत भगवान महावीर के पूर्व से ही जैन परंपरा में प्रसिद्ध थे। भगवान महावीर ने इन सिद्धांतों को पुनर्स्थापित किया और इन सिद्धांतों का उपयोग आत्म-कल्याण के साथ-साथ जनकल्याण में भी किया।

अनेकांत

'अनेकांत' वस्तु को देखने का एक ऐसा तत्वदर्शन है जिसने वर्तमान में सभी को आकर्षित किया है। अनेकांत दृष्टि की आवश्यकता आज पूरे विश्व को है।

यदि अनेकांत की शास्त्रीय परिभाषा की बात करें तो उसकी परिभाषा है कि **'एक ही वस्तु में वस्तुपने को प्रकट करने वाली तथा परस्पर दो विरोधी प्रतीत होने वाली शक्तियों का एक साथ प्रकाशित होना अनेकांत कहलाता है।'** कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु में मात्र एक धर्म ही नहीं होता है; उसमें अनंत धर्म होते हैं। अनंत धर्मों से युक्त वस्तु ही 'अनेकांतात्मक' कहलाती है।

अनेकांत में 'अनेक' और 'अंत' ये दो शब्द हैं। अनेक का अर्थ स्पष्ट है 'न एक' अर्थात् बहुत या अनंत। 'अंत' का अर्थ होता है 'धर्म'।

किसी भी घटना, परिस्थिति, वस्तु या जीवन का मात्र एक पहलू नहीं होता है वरन् अनेक पहलू होते हैं और उन अनेक पहलुओं की उपेक्षा करते हुए किसी एक पहलू से घटना, परिस्थिति, वस्तु या जीवन को देखना अथवा उसकी व्याख्या करना एकांतवाद है। जब तक हम हर दृष्टि से किसी वस्तु की व्याख्या नहीं करेंगे तब तक उस वस्तु के सच्चे स्वरूप को नहीं समझ सकते।

इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। एक व्यक्ति है; वह भाई भी है; पिता भी है; पति भी है; पुत्र भी है; दामाद भी है; साला भी है। अब प्रश्न कि एक व्यक्ति में इतने धर्म कैसे हैं? इसे अपेक्षा से समझेंगे तो सुविधा रहेगी। वह व्यक्ति अपने भाई की अपेक्षा भाई है, बेटे की अपेक्षा पिता है, पत्नी की अपेक्षा पति है, माता-पिता की अपेक्षा पुत्र है, सास-ससुर की अपेक्षा दामाद है तथा जीजा की अपेक्षा साला है। अपेक्षा लगा देंगे तो सब ठीक है कोई विवाद नहीं है। अब यहाँ हर व्यक्ति उसे सिर्फ़ अपने से संबंधी रिश्ते का ही नाम दे और अन्य से झगड़े तो उसका कोई औचित्य नहीं

है। पत्नी कहे कि यह सिर्फ़ मेरा पति है और किसी का कुछ नहीं है तो यह एकांतवाद हो जाएगा और विवाद जन्म लेंगे। यहाँ सभी उसे अपनी अपेक्षा रिश्ते को तो स्वीकारें किंतु अन्य की अपेक्षा उसमें जो भ्राता, पिता, दामाद इत्यादि के धर्म विद्यमान हैं उसे नकारे नहीं, उसका भी अस्तित्व स्वीकारें तभी वह दृष्टि अनेकांत कहलाएगी। बहुआयामी पदार्थ को जानने के लिए बहु-आयामी दृष्टि तो रखनी ही पड़ेगी। विश्वशांति के लिए सह-अस्तित्व का सिद्धांत बिना अनेकांत दर्शन के नहीं अपनाया जा सकता।

आज परिवार में, समाज में, राष्ट्र और विश्व में जितने भी लड़ाई-झगड़े चल रहे हैं, वे वस्तु की सही समझ के अभाव में चल रहे हैं। इनमें से प्रत्येक हर घटना को मात्र अपनी दृष्टि से देखता है तथा उसे ही अंतिम और पूर्ण सत्य मानता है। संघर्ष यहीं से आरंभ होता है। जिस दिन हम दूसरे की दृष्टि की यथार्थता और महत्व को समझने लगेंगे और उसका सम्मान करने लगेंगे उसी दिन से हम 'सम्यक् दृष्टि' को पा लेंगे और संघर्षों की कोई संभावना ही नहीं रहेगी। किंतु ऐसा मानने और समझने के बाद भी हमारे आचरण में अनेकांत नहीं आ पाने के कारण ही समस्याएँ यथावत् बनी हुई हैं।

स्याद्वाद

अनंत धर्मात्मक होने से वस्तु अनेकांत स्वभाव वाली कहलाती है। प्रश्न यह है कि इस अनंत धर्मात्मकता को अभिव्यक्ति कैसे दी जाए? इसके लिए जैनाचार्यों ने एक कथन पद्धति भी विकसित की, जिसका नाम है– स्याद्वाद। अतः अनेकांत की कथन शैली को स्याद्वाद कहा जाता है। स्याद्वाद बोलने की एक वैज्ञानिक कला है। प्रायः अनेकांत और स्याद्वाद को पर्यायवाची मान लिया जाता है किंतु ऐसा नहीं है। इन दोनों में वाच्य (जिसके बारे में कहा जाए) और वाचक (जो कहने वाला है) का संबंध है।

स्याद्वाद पद दो शब्दों से मिलकर बना है– स्यात् और वाद। यहाँ 'स्यात्' का अर्थ है 'कथंचित्' अर्थात् किसी अपेक्षा से, तथा 'वाद' का अर्थ है 'वचन' अर्थात् किसी अपेक्षा को बतलाकर कहा गया वचन। स्याद्वाद का एक नाम सापेक्षवाद भी है। वैज्ञानिक आइन्टीन का सापेक्षतावाद का सिद्धांत अनेकांत-स्याद्वाद सिद्धांत के बहुत निकट है। स्याद्वाद सप्तभंगी के माध्यम से अपनी बात कहता है। वह सप्तभंगी निम्न प्रकार हैं–

(1) स्यात् अस्ति (2) स्यात् नास्ति
(3) स्यात् अस्ति नास्ति (4) स्यात् अवक्तव्य
(5) स्यात् अस्ति अवक्तव्य (6) स्यात् नास्ति अवक्तव्य
(7) स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य

यहाँ 'स्यात् अस्ति' का अर्थ है कि स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से वस्तु है और 'स्यात् नास्ति' का अर्थ है कि परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से वस्तु नहीं है। ये दोनों स्थितियाँ एक ही समय में अलग-अलग भी हो सकती हैं और एक साथ भी; अतः तीसरा भंग भी बना 'स्यात् अस्ति नास्ति'। अब सभी धर्मों को एक समय में एक साथ बिना क्रम के बोलने को कहोगे तो कहना पड़ेगा 'स्यात् अवक्तव्य' अर्थात् यह एक ऐसी अपेक्षा है जहाँ वाणी भी मौन धारण कर लेती है। अतः किसी अपेक्षा से अवक्तव्यता भी बनती है। ये चार भंग मुख्य हो गए, अब शेष तीन भंग 'स्यात् अस्ति अवक्तव्य', 'स्यात् नास्ति अवक्तव्य' तथा तीनों को मिलाकर 'स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य' बनते हैं। एक ही समय में वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की अपेक्षा से है भी और उसी समय में दूसरे द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की अपेक्षा से वह नहीं भी है। स्व की अपेक्षा अस्ति और पर की अपेक्षा नास्ति और सबको एक ही समय में अक्रम से कह सकने में असमर्थता की अपेक्षा अवक्तव्यता –ये सब धर्म वस्तु में एक ही समय में विद्यमान हैं। इन सात के अलावा आठवाँ नहीं बना सकते। आठवाँ भंग बनाएँगे तो उसमें पुनरुक्ति दोष अवश्य आएगा। इसलिए भंग सात ही हैं। दरअसल हम किसी भी वस्तु के बारे में सात नवीन कथन ही कर सकते हैं। ये सात भंग या सात प्रकार की वचन विधि जैन दर्शन की मौलिक खोज है।

नयवाद

वस्तु के अनंत धर्मों में से जब किसी धर्म को ही समझाना हो तब नयवाद का सहारा लिया जाता है। ज्ञाता का अभिप्राय नय कहलाता है। हम लोग जब भी कुछ कहते हैं तब हमारा कोई न कोई आशय होता है। चार लोग यदि एक ही वाक्य बोलें तो भी ज़रूरी नहीं कि उनके आशय भी समान हों, अतः ऐसे समय में 'वक्ता के आशय को समझना, श्रोता के आशय (अभिप्राय) को समझना'–यह सारा काम 'नय' सिद्धांत सँभालता है। इसके भी कई भेद-प्रभेद हैं।

इन तीन सिद्धांतों को गहराई से समझे बिना जैन धर्म के मर्म को समझ पाना बहुत कठिन है। यहाँ इन सिद्धांतों को गहराई से समझने के लिए जैन दर्शन विषयक प्राकृत एवं संस्कृत साहित्य देखना चाहिए। आचार्य समंतभद्र की 'आप्तमीमांसा', सिद्धसेन दिवाकर का 'संमत्ति तर्क', विमलदास की 'सप्तभंगी तरंगिणी', देवसेन की 'आलापपद्धति' तथा माइल्लधवल का 'नयचक्र' आदि इन विषयों को गहराई से समझाने वाले ग्रंथ हैं।

विश्व प्रसिद्ध व्याकरण के आचार्य पाणिनी ने कहा है कि जो लोक और परलोक को नहीं मानता, वह नास्तिक है। विश्व के सभी आस्तिक धर्म लोक तथा परलोक पर विश्वास रखते हैं। चार्वाक दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जो परलोक को नहीं मानता। सभी धर्मों तथा दर्शनों में स्वर्ग एवं नरक की अवधारणा में भी अंतर है। जैन धर्म भी लोक एवं परलोक इन दोनों की स्वीकृति देता है। यहाँ भी पुण्य एवं पाप का फल स्वर्ग एवं नरक के रूप में प्राप्त होता है। इस दृष्टि से जैन धर्म-दर्शन विशुद्ध आस्तिक धर्म-दर्शन है। किंतु दार्शनिक जगत् में कई लोग जैन धर्म जैसे आस्तिक धर्म-दर्शन को नास्तिक कह देते हैं, जो सर्वथा गलत है। इस विषय पर सोलहवें अध्याय में विमर्श किया गया है।

प्रायः सभी धर्मों में **कर्म सिद्धांत** का प्रतिपादन है और जब कर्म सिद्धांत की स्वीकृति है तब स्वाभाविक रूप में कर्मों के अनुसार प्रत्येक जीव को उसके फलभोग के लिए लोक-परलोक, गतियों, पुनर्जन्म तथा स्वर्ग-नरक की मान्यताओं की स्वीकृति है। जैन आगमों और उसके परवर्ती साहित्य में ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक इन तीनों लोकों का तथा इनमें रहने वाले जीवों के संबंध में विस्तृत और सूक्ष्मतम प्रतिपादन किया गया है।

ईसा की प्रथम शती में हुए प्रथम सूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने अपने **तत्वार्थसूत्र** (मोक्षशास्त्र) नामक दस अध्याय वाले संस्कृत सूत्रग्रंथ में उपर्युक्त सात तत्वों के अंतर्गत तीन लोक संबंधी संपूर्ण, बहुत ही स्पष्ट और क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत किया है जो तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से सभी के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

जैन धर्म एक निवृत्ति प्रधान धर्म है; अतः यहाँ जीवन का अंतिम और प्रधान लक्ष्य सभी कर्मों से मुक्त होकर शाश्वत सुख रूप मुक्ति प्राप्त करना है। इसे ही निर्वाण-प्राप्ति या मोक्ष-प्राप्ति कहते हैं। जहाँ अन्य धर्मों में नरक से प्रत्येक जीव बचना चाहता है और स्वर्ग-प्राप्ति की कामना करता है, वहीं जैन धर्म में नरक, स्वर्ग और इस मध्यलोक में ही परिभ्रमण करते रहना **दुःख** माना है। इसे **भवभ्रमण** या संसार भ्रमण भी कहते हैं। यह भव-भ्रमण कर्मबद्ध अवस्था का द्योतक है और संपूर्ण कर्मों से मुक्त होने पर ही जीव का भव-भ्रमण छूटता है तथा मोक्ष प्राप्त होता है। इस तरह चाहे नरक हो या स्वर्ग अथवा यह मध्यलोक, इन सबको **संसार** संज्ञा प्राप्त है। अतः जैन धर्म जहाँ अधम गतियों से बचने की बात कहता है, वहाँ मोक्ष जैसे शाश्वत सुख-प्राप्ति के

लक्ष्य के समक्ष **स्वर्ग** की कामना से भी रहित होकर अपने लक्ष्य के लिए प्रयत्नशील बने रहने को भी कहता है। **पुण्य** भी स्वर्ग या अन्य शुभ गति रूप संसार ही प्रदान कराने वाला है; अतः आत्मोकर्ष की बहुत ऊँचाई पर पहुँचने पर **पुण्य** भी बाधक तत्व होने से वह भी एक स्थिति में त्याज्य माना जाता है। इसलिए आचार्य कुंदकुंद जैसे महान आध्यात्मिक जैनाचार्य ने पाप को लोहे की बेड़ी तथा पुण्य को सोने की बेड़ी कहा है और यह ही कह दिया कि बेड़ी चाहे सोने की हो या लोहे की, आखिर है तो **बेड़ी** ही। अतः दोनों का कार्य भी बाँधने (संसार परिभ्रमण) का ही होगा। व्यावहारिक दृष्टि से पाप की अपेक्षा पुण्य के मार्ग पर चलकर यदि अंतिम लक्ष्य मोक्ष की ओर उन्मुख रहें तो निश्चित ही हम शाश्वत सुख को प्राप्त कर सकते हैं। तीन लोक का जैन धर्म की दृष्टि से संक्षेप में वर्णन इस प्रकार है–

मध्यलोक

मध्यलोक में जिस पृथ्वी पर हम सब रहते हैं उसी पृथ्वी का नाम **चित्रा** पृथ्वी है। उसकी मोटाई एक हज़ार योजन है। सुमेरू पर्वत की जड़ एक हज़ार योजन इस पृथ्वी से भीतर है। इस सुमेरू का इस जड़ से नीचे सात राजू प्रमाण अधोलोक प्रारंभ होता है और क्रमशः एक के नीचे एक करके नरक की सात पृथ्वियाँ स्थित हैं।

अधोलोक (नरक)

अधोलोक की इन सात नरक भूमियों में पहली भूमि रत्नों जैसी प्रभा से युक्त होने के कारण **रत्नप्रभा** पृथ्वी कहलाती है। दूसरी शर्करा (ककंड) से सदृश होने से **शर्कराप्रभा** पृथ्वी है। तीसरी बालुका (रेत) की प्रमुखता से **बालुकाप्रभा** है। चौथी पंक (कीचड़) की अधिकता होने से **पंकप्रभा** है। पाँचवीं धूम (धुएँ) की अधिकता होने से **धूमप्रभा** है, छठी तम (अंधकार) की विशेषता से **तमप्रभा** है और सातवीं महातम (घनांधकार) की प्रचुरता से **महातमप्रभा** है।

इन पृथ्वियों में एक-दूसरे के बीच में असंख्य योजनों का अंतर है। इनमें रहने वाले जीव **नारकी** कहलाते हैं। तत्वार्थसूत्र में कहा है कि ये नारकी क्रमशः अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले होते हैं तथा ये परस्पर में एक-दूसरे को दुःख उत्पन्न करते हैं। इन नारकियों की उत्कृष्ट स्थिति (आयु) क्रमशः एक सागर, तीन सागर, दश सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर तथा तैंतीस सागर होती है। नरकों में भयानक दुःख होने पर भी असमय में मृत्यु नहीं होती। ये तीसरे नरक तक के नारकी जीव अत्यंत संक्लिष्ट परिणामों के धारक अंबावरीष जाति के असुरकुमार देवों के द्वारा उत्पन्न दुःख से युक्त होते हैं। अर्थात् ये असुरकुमार उन नारकियों को पूर्व शत्रुता (बैर) का स्मरण दिलाकर आपस में लड़ाते हैं और उन्हें दुःखी देखकर हर्षित

होते हैं। इस तरह ये नारकी अपने पूर्व कर्मवश दारुण दुःख अपनी पूरी उम्र भर सहने के लिए बाध्य रहते हैं।

जीव पापोदय से ही नरकगति में जन्म ग्रहण करता है। नारकी जीव मरणकर नरक और देवगति में जन्म ग्रहण नहीं करते किंतु मनुष्य और तिर्यंच गति में ही जन्म लेते हैं।

ऊर्ध्वलोक (स्वर्ग)

सुमेरू पर्वत की चूलिका से एक बाल (केश) मात्र अंतर से ऊर्ध्वलोक प्रारंभ होकर लोक शिखर पर्यंत 1,00,400 (एक लाख चार सौ) योजन कम सात राजू प्रमाण है। इनमें मुख्य रूप से वैमानिक देवों का निवास है, अतः इसे देवलोक, स्वर्गलोक आदि कहते हैं।

ऊर्ध्वलोक के दो भाग हैं– कल्प और कल्पातीत। जिन स्वर्गों में इंद्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक –ये दस कल्पनाओं से युक्त देव पद होते हैं, उन्हें कल्प कहते हैं तथा इन कल्पों में उत्पन्न देव **कल्पोत्पन्न** कहलाते हैं और सोलहवें कल्प से ऊपर इन कल्पनाओं से रहित अर्थात् कल्पों से ऊपर के अहमिंद्र देव कल्पातीत विमानवासी कहलाते हैं। यहाँ देवों में किसी प्रकार का भेद नहीं होता। वे सभी अहमिंद्र कहलाते हैं। कल्पोत्पन्न देव ही किसी निमित्त से मनुष्य लोक में आवागमन का कार्य करते हैं, कल्पातीत देव अपना स्थान छोड़कर कहीं नहीं जाते।

वस्तुतः देवों के चार निकाय (समूह) माने गए हैं– भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक। इनमें भवनवासी देवों के दस भेद हैं– असुर, नाग, विद्युत, सुपर्ण, अग्नि, वात, स्तनित, उदधि, द्वीपकुमार और दिक् कुमार।

दूसरे व्यंतर निकाय के देवों के आठ भेद हैं– किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच।

तीसरे ज्योतिष्क देवों के पाँच भेद हैं– सूर्य, चंद्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे।

चतुर्थ वैमानिक देव पूर्वोक्त दो ही प्रकार के हैं– कल्पोत्पन्न और कल्पातीत। ये वैमानिक देव जिन सोलह कल्पों (स्वर्गों) में रहते हैं, वे हैं– सौधर्म, ईशान, सनतकुमार, माहेंद्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत। इन सोलह स्वर्गों से ऊपर कल्पातीत हैं। सोलह स्वर्गों में इंद्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषक; इन दस की कल्पना होती है किंतु कल्पातीतों में यह कल्पना नहीं है, इसलिए वहाँ सभी अहमिंद्र कहलाते हैं।

इन सोलह स्वर्गों में दो-दो में संयुक्त राज्य हैं। इस कारण सौधर्म ईशान आदि दो-दो स्वर्गों का एक-एक युगल है। आदि के दो तथा अंत के दो, इस प्रकार चार युगलों में आठ इंद्र हैं और मध्य के चार युगलों में चार ही इंद्र हैं। अतएव इंद्रों की अपेक्षा स्वर्गों के बारह भेद हैं।

उपर्युक्त सोलह स्वर्गों में अनेक विमान हैं। अपने-अपने अंतिम इंद्रक विमान संबंधी ध्वजदंड के अग्रभाग तक उन-उन स्वर्गों का अंत समझना चाहिए।

कल्पातीत भूमि का जो अंत है वही लोक का अंत कहलाता है। लोक के अंत से बारह योजन नीचे सर्वार्थसिद्धि विमान है। सर्वार्थसिद्धि विमान के ध्वजदंड से 29 योजन 425 धनुष ऊपर सिद्धलोक (मोक्ष) है। यहाँ मुक्त जीव अवस्थित हैं। उसके बाद लोक का अंत आता है।

इस प्रकार जैन धर्म विषयक साहित्य में उपलब्ध स्वर्ग-नरक संबंधी विवेचन यहाँ सामान्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। विशेष विवेचन तत्वार्थसूत्र एवं उसके टीकाग्रंथ तथा तिलोयपण्णत्ति आदि अन्यान्य करणानुयोग विषयक ग्रंथों में देखा जा सकता है।

▢▢

जैन धर्म की प्राचीनता

''बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म अधिक, बहुत अधिक प्राचीन है, बल्कि यह उतना ही पुराना है, जितना वैदिक धर्म। जैन अनुश्रुति के अनुसार मनु चौदह हुए हैं। अंतिम मनु नाभिराय थे। उन्हीं के पुत्र ऋषभदेव हुए, जिन्होंने अहिंसा और अनेकांतवाद आदि का प्रवर्तन किया। भरत ऋषभदेव के ही पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा।''

—राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर'
संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 101

11 आत्मानुभूति का मार्ग : दशलक्षण धर्म

भारतीय संस्कृति में पर्वों का बहुत महत्व है। पर्व का नाम सुनते ही नए वस्त्र, पकवान, मिठाई इत्यादि की कल्पना मन को खुश कर देती है। पर्युषण पर्व आने पर बहुत उत्साह रहता है। किंतु यह उत्साह खाना-पीना छोड़ने के प्रति रहता है। इन दिनों छोटे से छोटे बच्चे तक व्रत, उपवास, संयम तथा स्वाध्याय इत्यादि में दत्तचित्त हो जाते हैं। सभी प्रातः देवदर्शन करके दशलक्षण पूजन पढ़ते हैं, उसके बाद ही एकासनपूर्वक दिन में एक बार अन्न ग्रहण करते हैं। कितने ही दस दिनों तक अन्न-जल तक ग्रहण नहीं करते और तपस्यापूर्वक अपने कर्मों की निर्जरा (दक्ष) करते हैं।

दशलक्षण पर्युषण महापर्व पर धर्मात्मा बंधु आत्मा के दश धर्मों की विशेष आराधना करते हैं। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन और ब्रह्मचर्य ये आत्मा के स्वाभाविक धर्म हैं किंतु अशुभ कर्मों के उदय से जीव इनके विपरीत परिणमन करने लगता है और नए अशुभ कर्म बाँध लेता है जिसका फल दुःखों के रूप में प्राप्त होता है। न सिर्फ़ जैन परंपरा में अपितु मनुस्मृति में भी क्षमा, धृति इत्यादि दश धर्मों का कुछ प्रकारांतर से उल्लेख है।

उत्तम क्षमादि धर्मों की आराधना भले ही जैन धर्म के अनुयायी ही करते हों लेकिन आत्मा के इन स्वाभाविक धर्मों की आराधना उन सभी को करने योग्य है जो आस्तिक हैं और जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकारते हैं। वैसे तो दशों दिन दशों धर्मों की आराधना का विधान है किंतु प्रमुखता की दृष्टि से क्रमशः एक-एक दिन एक धर्म की प्रधानता से चिंतवन किया जाता है।

अब आत्मा के इन दशलक्षणों का क्रम से महत्व समझेंगे–

(1) उत्तम क्षमा– आत्मा क्षमा स्वभावी है। उत्तम शब्द सम्यग्दर्शन का सूचक है जो शेष सभी धर्मों में समान रूप से लगता है। क्षमा मनुष्य की आत्मा का स्वाभाविक धर्म है, उसके विभाव रूप परिणमन से ही जीव क्रोधी हो जाता है। क्रोध आत्मा का स्वभाव नहीं हो सकता। अतः क्रोध को छोड़ना या कम करना क्षमा है।

(2) उत्तम मार्दव– मृदुता अर्थात् कोमलता का नाम मार्दव है। मान कषाय के कारण जीव अकड़ जाता है। उसमें कोमलता का अभाव हो जाता है। इसके कारण वह दूसरों को छोटा और स्वयं को बड़ा मानता है। मान के लिए छल-कपट करता है तथा मान भंग होने पर क्रोधित होता है। इस कारण वह धर्माराधना नहीं कर पाता, अतः मान के अभाव रूपी मार्दव भी आत्मा का धर्म है।

(3) उत्तम आर्जव— ऋजुता अर्थात् सरलता का नाम आर्जव है। आर्जव धर्म विरोधी माया कषाय है। मायाचारी कभी परमात्म पद नहीं पा सकता, अतः माया अभाव आवश्यक है। सरल मनुष्य ही आत्मानुभूति कर सकता है।

(4) उत्तम शौच— शुचिता अर्थात् पवित्रता का नाम शौच है। लोभ-कषाय के अभाव में शौच धर्म उत्पन्न होता है। लोभी लोभ के कारण पाप करता है, अतः लोभ आत्म-कल्याण में बाधक है।

(5) उत्तम सत्य— आत्म-कल्याण के इच्छुक को चाहिए कि वह आत्मा के सत्य धर्म की रक्षा करे। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसा ही मानना सत्य है। सत्य विपरीत मिथ्यात्व समस्त संसार में भ्रमण का कारण बनता है।

(6) उत्तम संयम— संयमन को संयम कहते हैं। पाँच व्रतों का पालन करना, पाँच समितियों का पालन करना, क्रोधादि कषायों का निग्रह करना पाँच इंद्रियों के विषय को जीतना संयम है।

(7) उत्तम तप— समस्त रागादि परभावों की इच्छा के त्याग द्वारा स्वरूप में रमण करना तप है। अंतरंग तप और बहिरंग तप ये दोनों मिलाकर बारह प्रकार के तप होते हैं।

(8) उत्तम त्याग— निज शुद्धात्मा के ग्रहणपूर्वक बाह्य और आभ्यंतर परिग्रह (वस्तु संग्रह) से निवृत्ति त्याग है।

(9) उत्तम आकिंचन्य— परिग्रह के अभाव में आकिंचन्य धर्म प्रकट होता है, इसे अपरिग्रह भी कहा जाता है। अपरिग्रह का अर्थ है ज़्यादा इकट्ठा करने की भावना का त्याग। शास्त्रों में कुल चौबीस प्रकार का परिग्रह माना गया है। उसका त्याग हो तभी आकिंचन्य धर्म होता है।

(10) उत्तम ब्रह्मचर्य— अनगार धर्मामृत में कहा है– **या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुचप्रवृत्ति : तद् ब्रह्मचर्यम्'** –पर द्रव्यों से रहित शुद्धबुद्ध अपनी आत्मा में जो चर्या अर्थात् लीनता होती है, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। साधुओं के सर्वथा स्त्री संसर्ग का त्याग तथा गृहस्थों के लिए स्वपत्नी संतोषव्रत ही व्यवहार से ब्रह्मचर्य धर्म है।

इस प्रकार दशों दिन आत्मा के इन दशधर्मों की भावपूर्वक आराधना करने वाला शीघ्र ही आत्मा की अनुभूति को प्राप्त करता है और निराकुल मोक्ष पद की प्राप्ति शीघ्र ही कर लेता है। ये दशधर्म आत्मा को शुद्ध बनाते हैं।

जैन धर्म में भावनाओं का बहुत महत्व है। मानव मन सदा काल से भावनाएँ करता चला आ रहा है। कहते हैं यदि हमारी भावनाएँ शुद्ध हों तो हम सब कुछ पा सकते हैं। हम भगवान का पूजन करते हैं, भक्ति करते हैं किंतु यदि वहाँ भावों का संयोग न हो तो पूजन-भक्ति निष्फल चली जाती है। भाव-शून्य क्रिया कहीं भी फलदायी नहीं होती। जीवन की छोटी-छोटी क्रियाओं पर भी भावनाओं का गहरा असर होता है।

प्रभु की भक्ति या आत्मा की भक्ति, बिना भावनाओं के कार्यकारी नहीं हो पाती है, इसलिए प्राचीन काल से ही ऋषि-मुनियों ने भाव क्रिया पर ज़ोर दिया। जैन परंपरा में भावना का प्रयोग अनुप्रेक्षा शब्द से किया है। संवेग और वैराग्य की अभिवृद्धि में इन बारह प्रकार की विशेष भावनाओं का अत्यधिक महत्व है। इन्हीं बारह भावनाओं को द्वादशानुप्रेक्षा कहा जाता है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है– बार-बार चिंतवन तथा मनन करना। तत्वार्थसूत्र ग्रंथ में निम्न प्रकार से बारह अनुप्रेक्षाएँ ध्यान व मनन करने योग्य बतलाई है–

अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोक-
बोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा।

अर्थात् अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म का चिंतवन करना अनुप्रेक्षा है।

(1) अनित्य– ''शरीर, इंद्रिय, विषय और भोगोपभोग ये जितने हैं, सब जल के बुलबुले के समान अनवस्थित स्वभाव वाले और समाप्त होने वाले हैं'। मोह के कारण मैं व्यर्थ ही इन्हें नित्य मानकर इनमें आसक्त हूँ। आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चिदानंद स्वरूप को छोड़कर संसार में कुछ भी नित्य नहीं है, अतः उस ब्रह्म स्वरूपी आत्मा का ही चिंतवन मुझे करना चाहिए''–इस प्रकार की बार-बार भावना करना अनित्य अनुप्रेक्षा है। ऐसा चिंतवन करते रहने से प्राप्त वस्तु के वियोग में दुःख नहीं होता।

(2) अशरण–''दुनिया में लोग जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधियों से घिरे हुए हैं। यहाँ मनुष्य की कोई शरण नहीं है। भोजन शरीर की चाहे जितनी सहायता करे किंतु दुःखों के प्राप्त होने पर उसका कोई उपयोग नहीं होता। धन को चाहे जितना इकट्ठा करूँ किंतु मरण से वह भी बचा नहीं पाता। इस जगत् में मित्र, पत्नी, पुत्र, पति जिन्हें हम अपना शरणभूत समझते हैं, अंत में दुःख ही देते हैं। तत्वतः जगत् में धर्म, ज्ञान-स्वभावी आत्मा और सभी कर्मों से मुक्त परमात्मा के अलावा मेरी सच्ची शरण

कोई नहीं है।'' इस प्रकार का चिंतवन करना अशरणानुप्रेक्षा है। ऐसा विचार करने से परावलंबन तथा संसार से, ममता से छूटकर धर्म में आस्था उत्पन्न होती है।

(3) संसार– ''स्वर्ग, नरक और मनुष्य लोक इस प्रकार इन तीन भागों में प्रभाजित यह संसार है, जिन्हें त्रिलोक कहते हैं। अनेक बार जन्म-मरण करता हुआ तीनों लोकों में, चौरासी लाख योनियों में भटका हूँ किंतु कभी आत्मा का अनुभव नहीं किया। आत्मा के अनुभव बिना इस दुःख रूपी संसार से कोई पार नहीं लगा सकता।'' इस प्रकार की भावना संसारानुप्रेक्षा है। इससे संसार का सच्चा स्वरूप पता लगने से व्यक्ति उसमें आसक्त नहीं होता।

(4) एकत्व– ''मैं अकेला ही जन्मता हूँ और अकेला ही मरता हूँ। स्वजन या मित्रजन ऐसा कोई नहीं जो मेरे दुःखों को हर सके। कोई भाई हो चाहे मित्र, सब श्मशान तक ही साथी हैं। एक धर्म ही मेरा साथ दे सकता है। आत्म-धर्म मेरे साथ जाएगा।'' ऐसी भावना एकत्वानुप्रेक्षा है। एक भावना से न स्वजनों में ज़्यादा प्रीति और न परजनों से द्वेष होता है। एक सच्चा अकेलापन मिलता है, जो निराशा नहीं देता बल्कि परमात्म मिलन की आशा उत्पन्न करता है।

(5) अन्यत्व– ''शरीर जड़ है, मैं चेतन हूँ, शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूँ, संसार में परिभ्रमण करते हुए मैंने हज़ारों शरीर धारण किए, परंतु मैं जहाँ का तहाँ हूँ।'' इस प्रकार शरीर एवं बाह्य पदार्थों से अपने को भिन्न चिंतवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। ऐसा चिंतवन करने से शरीर में स्पृहा नहीं होती, किंतु यह प्राणी तत्वज्ञान की भावना करता हुआ वैराग्य में अपने को जुटाता है, जिससे मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

(6) अशुचि– ''यह शरीर अत्यंत अपवित्र है, रोगों की खान है, यह शुक्रशोणित आदि सात धातुओं और मल-मूत्र आदि से भरा हुआ है। इसका कितना भी स्नान हो, तेल, उबटन, इत्र इत्यादि का प्रयोग करें, इसकी स्वाभाविक अशुचिता दूर नहीं हो सकती।'' ऐसी भावना करने से शरीर से वैराग्य होता है और जीव शरीर में आसक्त न होकर शुद्ध आत्मा की तरफ़ बढ़ता है।

(7) आस्रव– ''इंद्रिय, कषाय, अव्रत आदि इहलोक और परलोक दोनों में दुःखदायी हैं। इनके कारण आत्मा में कर्मों का आस्रव होता है।'' इस प्रकार का चिंतवन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। इससे आत्मा के क्षमादि धर्मों में प्रवृत्ति बढ़ती है और क्रोध, मान, माया, लोभ, इंद्रिय भोग आदि घटते हैं।

(8) संवर– ''संवर का अर्थ है– कर्मों के आने को रोकना। इंद्रिय संयम, मन वचन-काय का संयम तथा कषायों का अभाव करने से कर्म आत्मा में नहीं आते हैं।'' –ऐसी भावना संवरानुप्रेक्षा है। इससे आत्मा में कर्मों की गंदगी नहीं बढ़ती है।

(9) निर्जरा– ''फल देकर बँधे हुए कर्मों का झर जाना निर्जरा है। तपस्या से पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा जल्दी हो जाती है तथा नए कर्म नहीं बँधते।'' –इस प्रकार की भावना निर्जरानुप्रेक्षा है। ऐसा विचार करके जीव तपस्या की प्रवृत्ति करता है।

(10) लोक– ''लोक के स्वभाव का चिंतवन करना कि यद्यपि लोक अनादिनिधन और अकृत्रिम है तो भी इसमें स्थित प्राणी नाना दुःख उठा रहे हैं।'' ऐसा चिंतवन करने से तत्वज्ञान की विशुद्धि होती है। यह लोकानुप्रेक्षा है।

(11) बोधिदुर्लभ– ''चौरासी लाख योनियों में यह मनुष्य योनि मिलना, मनुष्य योनि मिलने पर भारत जैसा देश मिलना, देश मिलने पर उच्च कुल, गोत्र मिलना, इसके भी बाद धर्म संस्कार मिलना, तत्वोदेश मिलना उत्तरोत्तर महान दुर्लभ है। बहुत पुण्य के प्रताप से यह सब प्राप्त होता है, अतः इसका आत्म-कल्याण में उपयोग करना चाहिए।'' ऐसी भावना से बोधि को प्राप्त करके भी यह जीव प्रमादी नहीं होता।

(12) धर्म– ''भगवान ने जिस धर्म का उपदेश दिया है, उसका लक्षण अहिंसा है, उसकी पुष्टि सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, विनय, क्षमा, विवेक आदि धर्मों व गुणों से होती है। जो प्राणी इसे धारण नहीं करता उसे संसार में भटकना पड़ता है।'' इस प्रकार चिंतन करना धर्मानुप्रेक्षा है। इससे धर्म के प्रति अनुराग बढ़ता है।

इस प्रकार इन बारह भावनाओं के अनुशीलन से धर्म की साधना करने वाले साधकों की धर्म में स्थिरता बढ़ती है। विरक्ति का भाव विकसित होता है। इन बारह भावनाओं को लेकर कवियों ने अनेक पद्यमय दोहे, कविताएँ व गीत लिखे हैं जो जन-जन के कंठ में बसे हैं। उनमें से यह अनित्य भावना का दोहा बहुत प्रसिद्ध है–

राजा राणा छत्रपति हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन अपनी अपनी बार।।
दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णावश धनवान।
कहूँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान।।

जीवन का सूत्र : कर्म विज्ञान

कर्मों का खेल बहुत ही विचित्र है। हमारे पूर्व संचित कर्मों के कारण ही हमें जीवन में अनुकूलताएँ और प्रतिकूलताएँ देखने को मिलती हैं। कोई जन्म से ही सोने की थाली में खाना खाता है तो किसी को दो वक्त की रोटी का जुगाड़ करने में ज़िंदगी लग जाती है। कोई जन्म से ही तीव्र बुद्धि वाला होता है तो कोई लाख कोशिश करे तो भी ज्ञान की बात उसके पल्ले नहीं पड़ती। भारतीय संस्कृति में यह सब पूर्वकृत पाप-पुण्य का फल माना जाता है। भारत की यह विशेषता है कि दर्शन यहाँ के जनमानस में स्थापित है। 'जैसी करनी वैसी भरनी', 'बोया बीज बबूल का तो आम कहाँ से होय', 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा' इत्यादि सूक्तियाँ, दोहे हम जन्म से अपने दादा-दादी के मुख से सुनते आए हैं और वे कोई बहुत बड़े दार्शनिक नहीं थे।

जैन धर्म ने मनुष्य के सुख तथा दुःख के कारणों की खोज की और पाया कि मनुष्य अपने सुख और दुःख का कारण स्वयं है। कोई दूसरा उसे सुखी या दुःखी कर ही नहीं सकता। निःसंदेह यदि कोई हमारा बुरा कर रहा है तो ये उसके स्वयं के बुरे कर्म हैं किंतु यदि वह इस कार्य में सफल हो रहा है तब यह हमारे बुरे कर्मों का उदय है।

कर्मों के प्रकार

जैन दर्शन ने कर्मों को मुख्य रूप से आठ भागों में विभाजित करके समझाया है। उसके अनुसार कर्म की मूल रूप से आठ प्रकृतियाँ हैं, जो प्राणियों को अनुकूल और प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं। ये आठ प्रकृतियाँ हैं–

(1) ज्ञानावरणी कर्म (2) दर्शनावरणी कर्म (3) वेदनीय कर्म
(4) मोहनीय कर्म (5) आयु कर्म (6) नाम कर्म
(7) गोत्र कर्म (8) अंतराय कर्म

इनमें वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र कर्म अघातिया (स्वयं नष्ट होने वाले) हैं तथा शेष घातिया (नष्ट किए जाने वाले) कर्म हैं।

जैन धर्म के अनुसार कर्म एक अजीव तत्व है। हमारे आसपास के वातावरण में पुद्गल परमाणुओं का घना जाल है। वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि हमें दिखलाई नहीं देते, उन ही सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं में कुछ पुद्गल परमाणुओं की योग्यता कर्मों के रूप में बदल जाने की होती है। हमारी आत्मा में जो कि वास्तविक रूप से तो नितांत शुद्ध है, शुभ या अशुभ भाव अकसर उत्पन्न होते ही रहते हैं। हमारी आत्मा में ये भाव राग और द्वेष के कारण उत्पन्न होते हैं। जैसे ही विशुद्ध आत्मा के शुभ या अशुभ रूप भाव उत्पन्न होते हैं, वैसे ही कर्म रूप होने योग्य पुद्गल परमाणु आत्मा के इन भावों का

निमित्त पाकर आत्मा से चिपक जाते हैं और निश्चित समय के लिए वहाँ ठहर जाते हैं। फलतः आत्मा अशुद्ध हो जाती है और कर्मबद्ध कहा जाने लगता है। वस्तुतः आत्मा का स्वभाव तो ऊर्ध्वगमनत्व (ऊपर जाने वाला) है किंतु कर्मों के कारण वह बोझिल हो जाती है और इस संसार में ही भटकता रहती है।

सुख दुःख का कर्ता कौन?

कर्म कभी शुद्ध नहीं होते। वे आत्मा को सुखी या दुःखी कर देते हैं। कर्मों की इस विचित्र कहानी में जानने लायक बात यह है कि यह शृंखला अनादि काल से आत्मा के साथ चल रही है। हम पहले शुभ या अशुभ खुद ही भाव करते हैं और कर्म बाँधते हैं फिर जब ये कर्म अपना समय पूरा करके उदय में आते हैं तब हमें स्वयं ही सुखी-दुःखी कर देते हैं। अब यहाँ यह बात कहाँ से आई कि किसी दूसरे ने हमें सुखी या दुःखी कर दिया। हाँ; दूसरे दुःख या सुख में निमित्त ज़रूर बनते हैं किंतु अध्यात्म जगत् में निमित्त को कर्ता व्यवहार की भाषा में ही कहा जाता है, वास्तव में वह कर्ता होता नहीं है। जैसे पत्थर से ठोकर लगे और हम गिर जाएँ तो पत्थर निमित्त होता है किंतु गिरने और दुःख पाने के कर्ता हम स्वयं होते हैं। वहाँ पत्थर के दोष देने वालों को अज्ञानी ही कहा जाएगा। गहराई से देखें तो कर्म भी हमारे सुख-दुःख रूप परिणाम के निमित्त ही हैं; असली कर्ता और भोक्ता तो हमारा चेतन स्वभावी आत्मा ही होता है।

हमारी आत्मा में शुभ भाव, अच्छे भाव उत्पन्न होंगे तो शुभ कर्म बँधेंगे और जब वे उदय में आएँगे तो हमें यश, सफलता, उन्नति, ऐश्वर्य, संपदा और वे सब जो हमारे सुखों के अनुकूल हों, देंगे और जब हम अशुभ भाव; जैसे– किसी दूसरे का बुरा सोचना इत्यादि करेंगे तो अशुभ कर्म बँधेंगे और जब वे उदय में आएँगे तो हमें अनायास दुःख, विफलता, अपयश, निर्धनता इत्यादि प्रतिकूल वातावरण प्रदान करेंगे। इसी आधार पर भगवान महावीर ने आत्मा के पुरुषार्थ पर बल दिया और कहा कि '**अप्पा कत्ता विकत्ता य, सुहाण य दुहाण य**' अर्थात् आत्मा अपने सुख-दुःख का कर्ता, भोक्ता स्वयं ही है। किसी दूसरे में यह ताकत नहीं है कि आत्मा को सुखी या दुःखी बना दे। हमारे द्वारा बाँधे गए कर्म अड़तालीस मिनट से कुछ कम समय अर्थात् कम से कम एक अंतर्मुहूर्त में या अधिक से अधिक अगले जन्मों में कभी भी उदय में आकर हमें फल दे सकते हैं।

इसलिए वर्तमान में भोग रहे दुःखों या सुखों का साक्षात् कारण खोजना कि यह किन कर्मों का फल है, बहुत मुश्किल है। इस तथ्य की सच्चाई मात्र सर्वज्ञ परमात्मा को ज्ञात होती है, जो परम वीतरागता की अवस्था में हैं।

कर्मों का प्रभाव– इन कर्मों का अपना अलग-अलग प्रभाव है।

ज्ञानावरणी कर्म हमारी ज्ञान-शक्ति पर पर्दा लगाकर बैठ जाता है। इसके कारण हमें सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है। **दर्शनावरणी कर्म** आत्मा के

स्वयं को साक्षात्कार करने की शक्ति पर आवरण डाल देता है। **वेदनीय कर्म** के कारण जीव सुख-दुःख का वेदन करता है। **मोहनीय कर्म** आत्मा को मोही बनाकर रखता है। **आयुकर्म** हमें शरीर में कब तक टिके रहना है, यह निश्चित करता है। **नामकर्म** के कारण हमारा शरीर बनता है; हमारे सुंदर-असुंदर होने का कारण यही कर्म है। **गोत्र कर्म** के कारण हमारा जन्म ऊँचे या नीचे गोत्र में होता है। **अंतराय कर्म** का काम है हर काम में बाधा पहुँचाना। इन सभी कर्मों के भेद-प्रभेद बहुत हैं और उनकी अपनी अलग परिभाषाएँ हैं। हम देखें तो पाएँगे कि हमारा जीवन और उसमें होने वाली घटनाएँ इन्हीं कर्मों की अभिव्यक्ति हैं। जीव विज्ञान के वैज्ञानिक यह मानते हैं कि हमारे डी०एन०ए०, जीन्स में गर्भावस्था में ही यह निश्चित होता है कि हम क्या बनेंगे? हमारा रूप, लंबाई, कैसी होगी? बुद्धि कैसी होगी? स्वभाव कैसा होगा इत्यादि? ये सारी बातें कर्मों की सत्यता को प्रमाणित करती प्रतीत होती हैं।

भगवान महावीर ने यह बताया कि आत्मा तप, संयम और स्वसन्मुख शुद्धात्मा के पुरुषार्थ द्वारा सत्ता में पड़े पाप कर्मों को बंध अवस्था में ही उदय में आने से पहले पुण्य कर्मों में बदल सकता है और अधिक पुरुषार्थ करे तो इन सभी शुभ-अशुभ कर्मों का नाश करके परमात्म पद को प्राप्त कर सकता है। वे पुण्य को सोने की तथा पाप को लोहे की बेड़ी मानते थे। उनका मानना था कि यदि पक्षी को सोने के पिंजरे में भी रखा जाए तब भी परतंत्रता का ही अनुभव करता है और स्वतंत्र होना चाहता है। बंधन दुःख देता है चाहे वह जैसा भी हो। जैन धर्म के कर्मों की सूक्ष्मता समझाते हुए सैकड़ों विशाल आगम ग्रंथ लिखे गए हैं। वे ग्रंथ इतने कठिन हैं कि उस विषय को समझने-समझाने वाले आज दुर्लभ हो गए हैं।

अतः हम सभी को अपने भावों का ध्यान रखना चाहिए और उसे शुभ-अशुभ से हटाकर साम्य भाव में लाने का प्रयास करना चाहिए तभी हम सुखी हो सकते हैं।

▢▢

संसार दो तरह का होता है। एक द्रव्य संसार और दूसरा भाव संसार। द्रव्य संसार तो वह है जो हमें विभिन्न योनियों या गतियों के रूप में बाहर दिखलाई देता है और भाव संसार वह है जो हमारे भीतर बसा है। द्रव्य संसार में हम भले ही किसी भी गति में हों किंतु भाव संसार की अपेक्षा हमारे परिणाम (भाव) हर क्षण बदलते रहते हैं। हम अंतरोन्मुखी होकर अपने भावों या विचारों के खेल तो समझ ही सकते हैं; हाँ, दूसरे के भाव समझना बहुत कठिन है। हमारे क्रिया, परिणाम और अभिप्राय में जो आंतरिक भिन्नता रहती है, उसकी कल्पना करते हुए कवि 'युगल' जी ने देव-शास्त्र-गुरु पूजन में लिखा है–

चिंतन कुछ संभाषण कुछ क्रिया कुछ की कुछ होती है।
स्थिरता निज में प्रभु पाऊँ, जो अंतर् का कालुष धोती है।।

पाँच भाव

जैन दर्शन में जीव (आत्मा) के मुख्य रूप से पाँच भाव स्वीकार किए गए हैं। इन पाँचों भावों को जीव का स्वतत्व भी कहा जाता है, क्योंकि ये आत्मा को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य में नहीं रहते हैं। ये पाँच भाव हैं–

(1) औदयिक– जो भाव कर्मों के उदय से उत्पन्न होते हैं, उन्हें औदयिक भाव कहते हैं।

(2) औपशमिक– जो भाव कर्मों के उपशम (अनुदय) अर्थात् जमे रहने से होते हैं, उन्हें औपशमिक भाव कहते हैं।

(3) क्षायिक– जो भाव कर्मों के क्षय (विनाश) से उत्पन्न होते हैं, उन्हें क्षायिक भाव कहते हैं।

(4) क्षायोपशमिक– जो भाव कर्मों के क्षय (विनाश) तथा उपशम (अनुदय) इन दोनों से उत्पन्न होता है, वह क्षायोपशमिक या मिश्र भाव कहलाता है।

(5) पारिमाणिक– बाह्य निमित्त (कारणों) के बिना द्रव्य के स्वाभाविक परिणमन से जो भाव प्रकट होता है, वह पारिमाणिक भाव है। इसमें कर्मों का उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम कारण नहीं बनता है।

आत्मा इन भावों अर्थात् गुणों से युक्त होता है, अतः आत्मा को गुणनाम से भी कहा जाता है और उसकी अवस्था तथा स्थान को गुणस्थान कहा जाता है।

जैन दर्शन में मनुष्य की मनोभूमि तथा आत्मभूमि पर उत्पन्न होने वाली विभिन्न हज़ारों-लाखों मनोभावनाओं तथा भावों की खोज की गई और पाया गया कि जिस

प्रकार व्यक्ति का शारीरिक, बौद्धिक या मानसिक विकास होता है वैसे ही आध्यात्मिक विकास भी होता है। वैसे तो आत्मिक विकास की तारतम्यता को मापना टेढ़ी खीर है किंतु जैनाचार्यों ने गहन शोध करके तथा स्वयं अनुभूतिपूर्वक इस गहराई को समझा है और उसे करणानुयोग विषयक ग्रंथों में **चौदह गुणस्थान** नाम से व्याख्यापित किया है।

गुणस्थान

मोह और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के द्वारा आत्मा में होने वाले विभिन्न भावों तथा परिणामों की तारतम्यता रूप अवस्था को गुणस्थान कहा जाता है। जीव के परिणाम सदा एक से नहीं रहते। मोह के कारण तथा मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति के कारण आंतरिक परिणामों (भावों) में प्रतिक्षण उतार-चढ़ाव चलता रहता है। गुणस्थान का काम है इस उतार-चढ़ाव का बोध कराना। साधक व्यक्ति अभी किस स्तर तक पहुँचा है उसे और कितना चलना है; क्या सावधानी रखनी है? इत्यादि बातों को बताने वाला गुणस्थान उस ग्राफ़ की तरह है जिसमें उतार-चढ़ाव स्पष्ट दिखाई दे जाते हैं।

चौदह सोपान

गुणस्थान चौदह प्रकार के माने गए हैं। ये आध्यात्मिक सीढ़ी हैं। इनके चौदह सोपानों को हम निम्न प्रकार से समझेंगे–

(1) मिथ्यात्व– यह पहला गुणस्थान है। यह आत्मा की सबसे अधिक निम्न अवस्था है। यहाँ पर रहने वाला जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। ये अज्ञान में जीते हैं, इन्हें अच्छे-बुरे का ज्ञान नहीं होता। भोगों में आसक्त होते हैं। शरीर और आत्मा को एक मानते हैं अथवा आत्मा को मानते ही नहीं हैं। मिथ्यात्व अवस्था में जीव अज्ञानवश राग-द्वेष से युक्त मनुष्यों को देव मान लेता है; पाप का उपदेश देने वाले पुस्तकों को शास्त्र मान लेता है तथा पाखंडी को भी सच्चा साधु मानकर इन तीनों की पूजा करता है। इस दशा में अंनत संसार को बाँधने वाली क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों की प्रधानता रहती है। यह बहिरात्मा कहलाता है।

(2) सासादन– सासादन गुणस्थान जीव के मिथ्यात्व दशा के ऊपर जाते समय नहीं आता, बल्कि ऊपर से गिरकर आता है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्त्व का स्वाद चखने के बाद किसी कारण वहाँ से गिरा तो इस गुणस्थान में कुछ समय के लिए आता है। फिर पुनः मित्थात्व (1) में चला जाता है।

(3) मिश्र– मिश्र गुणस्थान का अर्थ है– सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की मिली-जुली अवस्था। इस अवस्था में जीव न तो पूरा सम्यग्दृष्टि रहता है और न ही पूरा मिथ्यादृष्टि। यह दुविधा वाली स्थिति रहती है। इस जगह विवेक शक्ति पूर्ण विकसित

नहीं होती। यहाँ से मिथ्यात्व (1) में भी चला जाता है और सम्यक्त्व (4) में भी चला जाता है। यह सब स्वपुरुषार्थ पर निर्भर है। इस अवस्था में मृत्यु नहीं होती।

(4) अविरत सम्यक्त्व– यह चतुर्थ गुणस्थान बहुत महत्वपूर्ण है। मोक्षमार्ग यहीं से प्रारंभ होता है। मिथ्यात्व का नाशकर जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है। भेद विज्ञान यहीं से प्रारंभ होता है। सम्यग्दृष्टि प्राप्त जीव संसार में रहकर भी उसी प्रकार उससे भिन्न रहता है जिस प्रकार कमल का फूल कीचड़ में रहकर भी कीचड़ से पृथक् रहता है। यद्यपि यह चारित्रमोह नामक कर्म के उदय के कारण बहुत व्रतों का पालन नहीं कर पाता है, इसलिए 'अविरत' शब्द जुड़ा है किंतु सदाचार का पालक यह भी होता है। शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि को एकदेश जिनेंद्र भी कहा गया है।

(5) संयतासंयत– यह पाँचवीं अवस्था है। इस अवस्था में स्थित जीव को श्रावक कहते हैं। यद्यपि वह व्रतों का पालन करता है किंतु आंशिक रूप से। अतः इसे अणुव्रती भी कहते हैं। महाव्रतों का छोटा रूप अणुव्रत है। इस दशा में न पूर्ण संयम और न ही असंयम रहता है। गृहस्थ अवस्था यहीं तक है।

(6) प्रमत्तविरत– इस अवस्था का जीव व्रतों का पूर्ण पालन कर महाव्रती हो जाता है। अब वह घर में नहीं रह सकता। महाव्रत होते हुए भी इस अवस्था में लेश मात्र प्रमाद भी रहता है जिससे साधना पूरी नहीं हो पाती है। यहाँ से गिरकर मिथ्यात्व स्थान में भी जा सकते हैं।

(7) अप्रमत्त विरत– यहाँ से आत्म ध्यान प्रारंभ होता है। मुनि सभी प्रमादों से रहित महाव्रतों का पूर्ण पालन करता है। आत्मा की अनुभूति भी सही रूप से यहीं से प्रारंभ होती है। किंतु यत्किंचित् आत्मा का अनुभव चतुर्थ सम्यक्त्व गुणस्थान में भी हो सकता है; ऐसा कई लोग मानते हैं। कभी-कभी प्रमत्तविरत (6) का प्रभाव होने से ये प्रमत्त भी हो जाते हैं। पर पुनः अप्रमत्त भी हो जाते हैं। छठे और सातवें गुणस्थान में मुनि झूलते रहते हैं।

(8) अपूर्वकरण– यह आठवाँ सोपान है। यहाँ पूर्व की तरह झूलना बंद हो जाता है और चरित्रबल बढ़ जाता है। यहाँ से कर्मों को दबाने वाली उपशम श्रेणी और कर्मों का क्षय करने वाली क्षपक श्रेणी में से किसी एक की शुरूआत होती है। यदि मोह कर्म को दबाकर मुनि आगे बढ़ता है तो आगे गिरने का डर है, यदि मोह कर्म को समाप्त कर आगे बढ़ता है तो फिर गिरने का डर समाप्त हो जाता है। इस अवस्था में साधक आत्मिक आनंद में निमग्न हो जाता है।

(9) अनिवृत्तिकरण– यहाँ सभी सूक्ष्म इच्छाएँ, चारित्रमोह के अंग नष्ट हो जाते हैं। परिणामों (भावों) में निवृत्ति अर्थात् भेद होने के कारण इसे निवृत्तिकरण कहते हैं।

(10) सूक्ष्मसाम्पराय– यहाँ सूक्ष्म लोभ रह जाता है; यहाँ से उसे दबाकर अथवा क्षयकर आगे बढ़ते हैं।

(11) उपशांत मोह– आठवें गुणस्थान में जिन्होंने मोह को दबाया था, यहाँ वे ही जाते हैं। यहाँ से पहले के गुणस्थानों में गिरने का डर बना रहता है।

(12) क्षीण मोह– जिन्होंने आठवें अपूर्वकरण में मोह का क्षय किया था; वे ग्यारहवें गुणस्थान में न जाकर सीधे यहाँ आ जाते हैं। यहाँ से अब गिरने का डर नहीं रहता। यहाँ दसवें से सीधे आ सकते हैं। यहाँ पूर्ण वीतरागता आ जाती है। अंतिम समय में सभी घातिया कर्म समाप्त हो जाते हैं।

(13) सयोग केवली– यह उत्कृष्ट दशा है। यहाँ जीव परमात्मा बन जाता है। इस स्थान पर उसे पूर्ण ज्ञान होने से सर्वज्ञता और अरिहंत दशा प्राप्त हो जाती है। यहाँ मन-वचन-काय का योग होने से सयोग केवली कहलाते हैं। तीर्थंकरों की दिव्य ध्वनि इसी अवस्था में खिरती है और उनके उपदेश होते हैं।

(14) अयोग केवली– यह गुणस्थानों में सर्वोत्कृष्ट दशा है। यहाँ अंतिम समय में आठों कर्मों का नाश होने से शरीर नहीं रहता। निराकार परमात्म दशा में पहुँचकर जीव लोक के अग्रभाग में सिद्धशिला पर अनंत काल के लिए अनंत ज्ञान तथा दर्शन, अनंत सुख तथा अनंत शक्ति वाले गुणों से संपन्न हो जाता है। यह जीव की सबसे उत्कृष्ट तथा आनंदपूर्ण अवस्था है।

इस प्रकार आध्यात्मिक विकास करके जीव पूर्ण सुखी हो जाता है तथा पुनः जन्म-मरण के दुःखों वाले संसार में नहीं आता। जीव के आत्मगत भावों का यह सुंदर वैज्ञानिक चित्रण जैन दर्शन की मौलिक देन है।

15 जैन धर्म के प्रमुख पर्व-उत्सव

प्रत्येक धर्म की तरह जैन धर्म में भी अपने त्योहार एवं पर्व मनाए जाते हैं। इनके आयोजन हेतु जनसामान्य में काफ़ी उत्साह रहता है। प्रत्येक पर्व का संबंध किन्हीं न किन्हीं विशेष धार्मिक क्रियाओं अथवा कथाओं से अवश्य रहता है। जैन धर्म हमेशा अहिंसक जीवन तथा नैतिक आचरण सिखाता है, इसलिए जैन धर्म में कोई भी पर्व मनाया जाए, उसका हिंसा या अनैतिकता से दूर-दूर तक लेना-देना नहीं होता। धर्म के नाम पर बेकसूर प्राणियों की बलि, शराब, मांस-जुआ आदि का सेवन जैन धर्म को कभी स्वीकृत नहीं रहा अपितु उसने हमेशा ऐसे अधर्म का निषेध किया है।

जैन धार्मिक पर्व दो प्रकार के होते हैं–

(1) सामयिक पर्व (2) शाश्वत पर्व

(1) सामयिक पर्व

इन्हें तात्कालिक पर्व भी कहा जाता है। यह भी दो प्रकार के होते हैं–

(i) महान् व्यक्तियों से संबंधित (ii) घटना विशेष से संबंधित

(i) महान व्यक्तियों से संबंधित पर्व– तीर्थंकरों की जयंतियों तथा उनके निर्वाण दिवस साक्षात् तीर्थंकरों से संबंधित हैं। जैसे महावीर जयंती के दिन भगवान महावीर का जन्म हुआ था और दीपावली के दिन भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था। इसी प्रकार ऋषभदेव जयंती, पार्श्वनाथ जयंती एवं अन्य सभी तीर्थंकरों की जयंतियाँ उनकी जन्म-तारीखों पर बहुत हर्षोल्लासपूर्वक मनाई जाती हैं। मंदिर में उनकी विशेष पूजा-अभिषेक, नगर में जुलूस इत्यादि का आयोजन विशेष रूप से होता है।

(ii) घटनाओं से संबंधित पर्व– रक्षाबंधन, अक्षय तृतीया आदि वे पर्व हैं जिनका संबंध पौराणिक घटनाओं से है।

(2) शाश्वत पर्व– त्रैकालिक तथा शाश्वत पर्व न तो किसी महान व्यक्ति से संबंधित हैं और न ही पौराणिक घटनाओं से। इनका संबंध आध्यात्मिक भावों से होता है। दशलक्षण महापर्व, अष्टाह्निक महापर्व आदि ऐसे ही पर्व हैं जिनका संबंध आत्मा के दशधर्मों से है। चूँकि आत्मा अनादि-अनंत शाश्वत तत्व है, अतः आत्मा से संबंधित होने के कारण ये पर्व भी शाश्वत कहे जाते हैं। सभी जैन पर्वों में विशेष धार्मिक आराधनाएँ होती हैं।

ऋषभदेव जयंती

जैन धर्म के आदि प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म चैत्रवदी नवमी को हुआ

था। इस दिन पूरा देश उन्हें याद करता है। तीर्थंकर ऋषभदेव की मान्यता वेद-पुराणों में भी है, अतः वैदिक धर्म के अनुयायी भी उनका स्मरण श्रद्धापूर्वक करते हैं।

महावीर जयंती

चैत्र शुक्ला जयंती त्रयोदशी के दिन भगवान महावीर का जन्म हुआ था। यह उनका अंतिम जन्म था और इसी जन्म में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। अतः उनका जन्मोत्सव संपूर्ण भारतवर्ष ज़ोर-शोर से मनाता है। भगवान महावीर अंतिम तीर्थंकर थे इसलिए वर्तमान में उन्हीं का शासन माना जाता है। भारत सरकार महावीर जयंती के दिन सरकारी अवकाश भी रखती है ताकि सभी भगवान महावीर की शिक्षाओं को अपनाने के लिए उन्हें याद कर सकें।

इस प्रकार शेष बाईस तीर्थंकरों की जन्म जयंतियाँ भी पर्व के रूप में मनाई जाती हैं।

दीपावली

कार्तिक कृष्णा अमावस्या को प्रातः भगवान महावीर का निर्वाण हुआ था तथा शाम को उनके प्रमुख शिष्य गौतम गणधर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। इसी उपलक्ष्य में जैन धर्मानुयायी प्रातःकाल भगवान महावीर के सम्मुख निर्वाण लड्डू चढ़ाते हैं तथा शाम को घरों में ज्ञान के प्रतीक दीपक जलाकर पूजन-पाठ करते हैं।

रक्षाबंधन पर्व

श्रावण शुक्ला पूर्णिमा के दिन विष्णुकुमार मुनिराज ने महान तपस्वी संत अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों की विपत्ति से रक्षा की थी। तभी से रक्षाबंधन पर्व जैन धर्म का एक प्रमुख पर्व बन गया। इस दिन रक्षा की आकांक्षा से बहनें भाइयों को रक्षासूत्र-राखी तो बाँधती ही हैं साथ ही सभी साधर्मी भाई-बहन जिन मंदिर में जाकर मंदिर की राखी भी बाँधते हैं। धर्म की रक्षा, तीर्थं की रक्षा तथा साधर्मी की रक्षा का वचन भी रखते हैं।

श्रुत पंचमी

ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी के दिन जैन परंपरा के प्राचीन आगम षट्खंडागम की रचना आचार्य धरसेन के शिष्य पुष्पदंत और भूतबली ने गिरनार पर्वत पर पूर्ण की थी। इसी दिन जिनवाणी की पूजन भी हुई थी। उसी दिन से श्रुत पंचमी का पर्व जैन समाज में विशेष रूप से मनाया जाता है। इस दिन शास्त्र भंडारों से शास्त्र बाहर निकाले जाते हैं, उनकी साफ़-सफ़ाई होती है तथा उन पर नए वस्त्र या कवर लगाए जाते हैं। उनके पूजन का विशेष आयोजन होता है।

अक्षय तृतीया

वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन तीर्थंकर ऋषभदेव ने उपवास के बाद प्रथम पारणा कर इक्षु रस का पान किया था। राजा श्रेयांस ने उन्हें इक्षु रस से आहार कराया

था। यह पर्व आखा तीज के रूप में भी विख्यात है। जैन धर्मानुयायी वर्ष भर के व्रतों का उद्यापन इस दिन करते हैं। इस दिन इक्षु रस ग्रहण करने की भी परंपरा है।

दशलक्षण महापर्व

दशलक्षणपर्युषण महापर्व जैन धर्मानुयायियों के सर्वाधिक प्रसिद्ध व पवित्र दिन माने जाते हैं। ये पर्व वर्ष में तीन बार आते हैं–

(1) भाद्रपद सुदी पंचमी से चतुर्दशी तक

(2) माघ सुदी पंचमी से चतुर्दशी तक

(3) चैत्र सुदी पंचमी से चतुर्दशी तक

लगातार दस दिनों तक चलने वाले इन व्रत-पर्वों में मंदिरों में विशेष अनुष्ठान होते हैं। इन दश दिनों में आत्मा के दशधर्मों, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म की आराधना की जाती है। लोग अनशन, ऊनोदर आदि व्रत-उपवास करके इन दश दिनों में विशिष्ट पूजाएँ करते हैं। अंतिम दिन अनंत चतुर्दशी को बच्चों से लेकर बड़े तक सभी उपवास रखते हैं।

क्षमावाणी पर्व

दशलक्षण महापर्व समाप्ति के एक दिन बाद आसौज कृष्णा एकम् को क्षमावाणी पर्व मनाया जाता है। यह अपने आपमें अनूठा पर्व है। इस दिन सभी लोग अपने पुराने गिले-शिकवे भूलकर एक-दूसरे से अपनी भूलों के लिए हृदय से क्षमा-याचना करते हैं। क्षमावाणी कार्ड भेजकर तथा फ़ोन द्वारा दूर बैठे भाइयों से भी क्षमा-याचना करते हैं। विश्वशांति की स्थापना के लिए जैन धर्म ने यह एक अनूठी पहल की है।

अष्टाह्निका महापर्व

यह पर्व भी वर्ष में तीन बार आता है। कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मास के अंतिम आठ दिन तक यह पर्व भी बहुत उत्साहपूर्वक व्रत-उपवास करके मनाया जाता है। इन दिनों नंदीश्वर द्वीप पर बने हुए 52 अकृत्रिम जिन चैत्यालयों की वंदना करने के लिए जाते हैं। अतः जैन अनुयायी श्रावक लोग परोक्ष रूप से नंदीश्वर द्वीप पर बने अकृत्रिम जिन चैत्यालयों की पूजा नंदीश्वर विधान के माध्यम से करते हैं। कई स्थानों पर इन दिनों सिद्धचक्र महामंडल विधान का भी आयोजन होता है, जिसमें सिद्ध भगवान के गुणों की आराधना होती है।

षोडशकारण पर्व

यह पर्व भाद्रपद, माघ तथा चैत्रवदी को तीस दिनों का होता है। तीर्थंकर पद की प्राप्ति के लिए दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं को कारण माना जाता है, अतः इन्हें सोलहकारण भावना कहते हैं। इन दिनों में भी श्रावक विशेष रूप से भक्ति-पूजन तथा व्रत-उपवास करते हैं।

रत्नत्रय पर्व

यह आध्यात्मिक पर्व भी वर्ष में तीन बार आता है। भाद्रपद, माघ और चैत्रसुदी 13 से 15 तक यह पर्व चलता है। जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र को मोक्षमार्ग कहा गया है। इन्हें ही रत्नत्रय कहते हैं। इन तीन दिनों में इन्हीं तीन रत्नों की विशेष पूजाएँ होती हैं। लोग व्रत-उपवास भी करते हैं।

अष्टमी-चतुर्दशी

प्रत्येक माह की अष्टमी-चतुर्दशी स्वतः ही जैन धर्म के लिए एक व्रत अनुष्ठान पर्व है। जो लोग बाकी के दिनों में व्रत-उपवास, पूजन, पाठ आदि नहीं कर पाते हैं, वे इन दिनों में कर लेते हैं। इन दो तिथियों में ज़मींकंद तथा हरित पदार्थों का विशेष रूप से त्याग किया जाता है।

इन पर्वों के अलावा भी जैन धर्म में अनेक पर्व हैं, जो तिथि क्रम से आते हैं तथा जिनका संबंध आत्मधर्म से है। इन पर्वों की अनेक पौराणिक कथाएँ भी हैं, जो इन पर्वों को मनाने के लाभ को बताती हैं तथा प्रेरणा देती हैं। विशेष तथा विस्तृत जानकारी के लिए जैन पूजन, व्रत, कथा संग्रह की प्रकाशित पुस्तकों का अध्ययन किया जा सकता है।

▢▢

अनेकांत

अनेकांत, मेरी दृष्टि में, सत्य को एक स्थिर जड़ तथ्य न मानकर सापेक्ष तरल गतिशील वस्तु मानता है। ज्ञान के क्रमिक विकास के लिए यही एकमात्र गतिशील मार्ग है।

–प्रो०डॉ० दयानंद भार्गव, राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त संस्कृत तथा दर्शन के प्रकांड मनीषी

16 जैन धर्म की आस्तिकता

भारतीय दर्शन की एक परंपरा ऐसी भी है जो दर्शन को आस्तिक और नास्तिक दर्शन के रूप में विभाजित करती आई है। भगवान बुद्ध के दर्शन तथा चार्वाक दर्शन के साथ भगवान महावीर के दर्शन को भी इसी श्रेणी में रखकर एक ही तराजू में उन्हें भी तौल दिया गया है। किंतु नास्तिकता का जो आधार वहाँ बनाया गया है, उस आधार पर भगवान महावीर का दर्शन नास्तिक सिद्ध नहीं होता है।

मुख्य रूप से जो आधार नास्तिकता का बनाया गया है, वह ईश्वर को नहीं मानना, लोक-परलोक को नहीं मानना, आत्मा या पुनर्जन्म को नहीं मानना और वेदों की निंदा आदि को बनाया गया है। यदि ईश्वर की मान्यता की बात लें तो जैन दर्शन में ईश्वर की स्वीकृति परमात्मा के रूप में है। अनंतानंत ईश्वर सिद्ध भगवान के रूप में लोकाग्र में बसे हुए हैं जो निराकर, शाश्वत, अनंत ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य से पूर्ण और स्वानुभूति में रमे हुए हैं। वे सभी कर्मों, बंधनों से रहित परम शुद्धोपयोग में रमने वाले पूर्णब्रह्म हैं। उनकी पूजा भी होती है, मंदिरों में सिद्धचक्र विधान जैसी महापूजाएँ लोग उन गुणों की प्राप्ति के लिए करते हैं। सिद्धावस्था से पूर्व की अवस्था में चार घातिया कर्मों का तपस्या के द्वारा नाश कर अरहंत भगवान पद पर स्थित ईश्वर की, तीर्थंकरों की पूजा प्रकर्ष रूप से जैन मंदिरों में चलती है। हाँ, यह बात ज़रूर है कि जैन दर्शन ईश्वर को सृष्टि का कर्ता-धर्ता नहीं मानता, परंतु यह तो उसकी ईश्वर के स्वरूप के संदर्भ में अन्य दार्शनिकों की तरह अपनी मौलिक व्याख्या है। ईश्वर है, यह सभी आस्तिक मानते हैं, लेकिन वह कैसा है? इस बारे में अलग-अलग दर्शन अलग-अलग व्याख्याएँ करते हैं। जैनदर्शन भी उसमें से एक है। निरीश्वर सांख्य और पूर्वमीमांसक आदि अनेक दर्शन वैदिक आस्तिक दर्शन कहलाने के बाद भी ईश्वर के बारे में अपनी अलग मान्यताएँ रखते ही हैं।

भारतीय और पाश्चात्य परंपरा दोनों में ही एकेश्वरवाद, बहु-ईश्वरवाद, ईश्वर का व्यापकत्व-अव्यापकत्व, सगुणत्व-निर्गुणत्व, साकारत्व-निराकारत्व आदि अनेक मान्यताएँ प्रसिद्ध ही हैं। लेकिन ईश्वर को मानना और उसकी पूजा करना इस बात को लेकर जैन दर्शन दो राय नहीं रखता। अतः इस आधार पर महावीर के दर्शन को नास्तिक कहना गलत है। संस्कृत वैयाकरण पाणिनी के अनुसार जो लोक-परलोक को नहीं मानता, वह नास्तिक है। अतः इस आधार पर भी महावीर के दर्शन को नास्तिक कहना गलत है क्योंकि लोक-परलोक की व्याख्या भगवान महावीर ने बहुत की है और जैनाचार्यों ने तिलोयपण्णत्ति (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) तथा तत्त्वार्थसूत्र जैसे ग्रंथों में

स्वर्ग-नरक की सघन व्याख्या की है। आत्मा और पुनर्जन्म आदि की स्वीकृति के बिना तो जैन दर्शन चल ही नहीं सकता। महापुरुषों के भव-भवांतर की कथाएँ तथा पुनर्जन्म के आधार पर ही कर्म-कर्मफल का सिद्धांत जैन दर्शन स्वीकार करता है। आत्मा की स्वीकृति की बात तो भगवान महावीर से ज़्यादा कोई नहीं कर सकता। वे आत्मा की तीन अवस्थाएँ बतलाते हैं– बहिरात्मा, अंतरात्मा तथा परमात्मा। यदि जैन दर्शन से आत्मा शब्द को निकाल दें तो वह उद्देश्यहीन हो जाएगा और फिर शायद ही इस दर्शन में कुछ शेष रह जाए।

'वेदनिंदको नास्तिकः' जैसे आग्रहपूर्ण लक्षण के अनुसार भी भगवान महावीर को नास्तिक नहीं कहा जा सकता। जैनागमों को देखें तो महावीर ने कहीं भी वेदों की निंदा नहीं की है। परम वीतरागी भगवान जो राग-द्वेष से पूर्णतः मुक्त थे, वे किसी की निंदा कैसे कर सकते थे? वैदिक यज्ञादि में पशुबलि आदि की जो विकृतियाँ थीं, वे उन्हें उचित नहीं लगीं। धर्म-अधर्म का भेदज्ञान करवाना तो हर ज्ञानी व्यक्ति का कर्तव्य है। वैदिक परंपरा को भगवान महावीर का ऋणी होना चाहिए कि उन्होंने हिंसा जैसे महापाप से बचाकर यज्ञादि को पवित्र बना दिया, जो आज तक चल रहा है।

'वेद' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' होता है और ज्ञान-दर्शन को आत्मा का लक्षण मानने वाले केवलज्ञानी भगवान महावीर ज्ञान की निंदा या निषेध कैसे कर सकते हैं? वेद में प्रतिपादित दर्शन या मान्यता से यदि कोई वैमत्य रखता है तो यह नास्तिकता का आधार इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि वैदिक दर्शनों की ही अनेक मान्यताएँ एक-सी नहीं हैं, प्रत्युत परस्पर विरोधी हैं और यदि किन्हीं कारणों से ऐसा है तो अवैदिक दर्शन कहे जाने वाले जैन दर्शन ने ऐसा कौन-सा गुनाह किया है जिस कारण कुछ चिंतक उसे नास्तिक कहने का दार्शनिक अपराध इस आधुनिक स्वतंत्र चिंतन के विकसित युग में भी करते जा रहे हैं। आधुनिक युग के प्रख्यात भौतिकशास्त्री स्टीफन हॉकिन्स ने भी घोषणा की है कि इस ब्रह्मांड को ईश्वर ने नहीं बनाया।

अतः ईश्वर के सच्चे स्वरूप की व्याख्यान करना जैन धर्म की अपनी मौलिक विशेषता है। ईश्वर को कर्ता-धर्ता मानना ही ईश्वर को मानना है। यह तो दोषपूर्ण लक्षण हुआ। अनेक बड़े दार्शनिकों ने यह माना है कि जैन धर्म-दर्शन आस्तिक है। अतः दर्शन के क्षेत्र में उन्होंने विभाजन करने के लिए वैदिक और अवैदिक का भेद किया है जिसमें जैन, बुद्ध और चार्वाक को अवैदिक माना है और शेष को वैदिक। यह विभाजन नास्तिक-आस्तिक की अपेक्षा अधिक समीचीन है। वैदिक पुराणों में चौबीस तीर्थंकरों को विष्णु का अवतार माना है। इस दृष्टि से भी देखें तो विचार करना चाहिए कि भगवान विष्णु के अवतारों द्वारा प्रतिपादित जैन दर्शन नास्तिक कैसे हो सकता है?

मरने की कला : अंत भला सो सब भला

जन्म और मृत्यु ये जीवन की दो सबसे बड़ी सच्चाइयाँ हैं। जन्म से पहले क्या था? मृत्यु के बाद क्या होगा? इन सब विषयों पर अलग-अलग धर्मों की राय अलग-अलग हो सकती है क्योंकि यह विषय अनुमान और श्रद्धा का है। किंतु यह बात कि 'जन्म होता है और जिसका जन्म होता है उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है।' इस विषय पर दुनिया के किसी धर्म, संप्रदाय या विज्ञान में मतभेद नहीं है। यह इतना अधिक प्रत्यक्ष व अनुभूत तथ्य है कि इसको झुठलाने की शक्ति किसी में भी नहीं है।

'मृत्यु' जैसे सच को जैन धर्म ने बहुत गंभीरता से लिया है। इस विषय पर जैनाचार्यों ने अत्यंत वैज्ञानिक चिंतन किया है। विचार किया गया कि यदि एक न एक दिन मृत्यु होनी ही है तो क्यों न सकारात्मक हो? जिस प्रकार हम जन्म को मंगल मानते हैं उसी प्रकार मरण को भी मंगल बना दें। जब प्रश्न उभरा कि मरण को किस प्रकार मंगल मानें? तब जैन धर्म में त्याग और संयम के चरमोत्कर्ष स्वरूप सल्लेखना को जन्म दिया। सल्लेखना को संथारा, समाधिमरण, मृत्यु-महोत्सव आदि नामों से भी जाना जाता है। जीने की कला सिखाने वाले तो दुनिया में बहुत हैं, पर मरने की कला भी सिखाना जैन धर्म की एक विशिष्टता है। यह सल्लेखना गृहस्थ तथा साधु दोनों ले सकते हैं।

सल्लेखना क्या है?

स्वतः मरणकाल निकट होने पर सभी प्रकार की निराशा, हताशा, चिंता, कषाय तथा विषय आदि त्यागकर समता-ध्यानपूर्वक देह को छोड़ना ही समाधिमरण या सल्लेखना कहलाता है। आचार्य समंतभद्र ने सल्लेखना का लक्षण बताया है–

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निष्प्रतिकारे।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः॥

(रत्नकरण्ड श्रावकाचार-122)

भावार्थ यह है कि यदि मृत्युदायक ऐसी विपत्ति आ जाए, ऐसा अकाल पड़ जाए, ऐसा बुढ़ापा आ जाए और ऐसा रोग हो जाए जिसको टालना संभव न हो और मृत्यु अवश्यंभावी हो तब आत्म धर्म की रक्षा के लिए संयमपूर्वक शरीर का त्याग करने को सल्लेखना कहते हैं। यह साधक की अंतःक्रिया है। वह मृत्यु का समय स्वतः नज़दीक आने पर मन से सभी भोग पदार्थों का त्याग कर देता है। आसक्ति कम होने से धीरे-धीरे वह भोजन को कम करता जाता है। अपना मन णमोकार मंत्र, समाधिमरणपाठ तथा ध्यान में लगाता है। सभी से कृत अपराधों की क्षमा-याचना भी

करता है। यह तो निश्चित है कि बोझिल आत्मा कभी सुखी नहीं रह सकती। अतः वह प्रयास करता है कि मृत्यु से पहले जब तक बात मेरे हाथ में है, मैं अपनी आत्मा को शुद्ध बना लूँ। इसलिए वह प्रायश्चित (प्रतिक्रमण) भी करता है, और पूरा समय होने पर शांत भाव से उसकी आयु स्वतः समाप्त हो जाती है। यह मृत्यु पर विजय है। इस बीच यदि रोग हट जाए, विपत्ति टल जाए और ऐसा लगे कि अभी तो आयु बहुत बची है तब सल्लेखना से वापस आकर उसे संयमपूर्वक शेष जीवन जीने की आज्ञा भी जैनागमों में दी गई है। हमने कई तरह से लोगों को मरते देखा है। जीवन भर खूब खाया-पिया, अंत समय में खाने को हाय-तौबा किए रहते हैं, कोई अंतिम समय तक दूसरों को गाली देता रहा, बदले की आग में झुलसता रहा, बड़बड़ करता रहा, परिवार, मकान-दुकान की चिंता करता रहा और रोता रहा। मरते-मरते भी यश-कीर्ति, सांसारिक भोगों से आसक्ति नहीं छूटी और मौत ज़बरदस्ती उन्हें उठाकर ले गई।

वर्तमान में सल्लेखना के आध्यात्मिक रहस्य को समझना आसान नहीं है और इसके संबंध में उठने वाले प्रश्नों के उत्तर भी दो दूनी चार जैसे नहीं दिए जा सकते। इसके लिए कुछ स्वाध्याय करना पड़ेगा व कुछ प्रयोग देखने पड़ेंगे। कई लोग नासमझी में इस परम आध्यात्मिक भाव परिष्कार की चिकित्सा को 'आत्महत्या' जैसे तुच्छ शब्दों का प्रयोग कर दूषित करते हैं। सल्लेखना या संथारा के द्वारा जो समतापूर्वक समाधिमरण होता है, उसमें और आत्महत्या में ज़मीन-आसमान की तरह कई मौलिक अंतर हैं–

1. आत्महत्या वह व्यक्ति करता है जो परिस्थितियों से उत्पीड़ित है, उद्विग्न है तथा जिसकी मनोकामनाएँ पूर्ण नहीं हुई हों। वह संघर्षों से घबराकर कुएँ में कूदकर, कहीं से गिरकर, विष खाकर, फाँसी लगाकर अपना जीवन समाप्त कर लेता है जबकि सल्लेखना व्यक्ति द्वारा किसी परिस्थिति से घबराकर या निराशा में नहीं ली जाती और न ही मरने के लिए कोई निमित्त खोजा जाता है, बल्कि संयम की आराधना करते हुए स्वाभाविक मृत्यु से न भागकर उसका सहर्ष स्वागत करता है।

2. आत्महत्या के मूल में भय और कामनाएँ रहती हैं, वासनाओं की तीव्रता तथा उत्तेजना रहती है जबकि सल्लेखना में कषाय, इच्छा, वासना, भय इन सभी चीज़ों का अभाव रहता है।

3. आत्महत्या करते समय व्यक्ति की मुखमुद्रा विकृत होती है, उस पर तनाव होता है तथा भय की रेखाएँ दिखाई देती हैं। सल्लेखना में साधक की मुखमुद्रा पूर्ण शांत होती है, उसके चेहरे पर किसी किस्म की आकुलता-व्याकुलता नहीं रहती।

4. आत्महत्या करने वाले की मृत्यु आकस्मिक होती है तथा उसका स्नायुतंत्र तनावयुक्त रहता है। सल्लेखना करने वाला मरने का प्रयास नहीं करता किंतु उसे

जिजीविषा (जीने की इच्छा) भी विशेष नहीं रहती, वह सिर्फ़ अवश्यंभावी मृत्यु को स्वीकारता है तथा उसका स्नायुतंत्र तनावमुक्त रहता है।

5. आत्महत्या लुक-छिपकर की जाती है तथा बिना आज्ञा लिए की जाती है। सल्लेखना का स्थल सभी को ज्ञात होता है तथा इसमें गुरु की आज्ञा ली जाती है।

6. आत्महत्या अनायास होती है क्रमिक नहीं। ऐसा सुनने में नहीं आता कि अमुक व्यक्ति आत्महत्या में पिछले एक या दो वर्ष या माह से लगा हुआ है। सल्लेखना का एक वैज्ञानिक क्रम है। लोग 12 वर्षों की उत्कृष्ट नियम सल्लेखना भी लेते हैं। साधक बहुत समय से तथा बहुत समय तक सल्लेखना लिए रहता है। जिसने जीवन में कभी व्रत, उपवास, स्वाध्याय आदि नहीं किया, वह भी जल्दी सल्लेखना नहीं ले सकता।

इसके अलावा भी बहुत सारे अंतर इन दोनों के बीच में हैं।

मौत का क्या भरोसा? किस क्षण चली आए। आज तक हमने अस्पतालों में, बोतलों पर चढ़े, दवाइयों के नशे में पलस्तरों और इंजेक्शनों के बीच रोते, बिलखते मरते बहुत लोगों को देखा है। ये अंत समय तक जीना चाहते थे। शराबी, शबाबी तथा कबाबी लोगों को नालियों में मरते देखा है, ये भी जीना चाहते थे। हत्याओं, डकैतियों और आतंकवाद में लिप्त लोगों को गोलियों से छलनी अवस्था में उनकी दयायाचक नम आँखों को देखा है, यह भी जीना चाहते थे। निराशा, हताशा, असफलताओं से घबराए, भावनात्मक रूप से क्षत-विक्षत लोगों को पंखों से लटककर, ट्रेनों के नीचे कटकर या विष खाकर आत्महत्या करते देखा है, यह भी जीना चाहते थे लेकिन डरपोक थे, जो नहीं जी पाए। इनकी कमज़ोरी ने इन्हें मार दिया था।

वहीं दूसरी तरफ़ कई तपस्वियों, मुनियों, आर्यिकाओं, साधुओं-साध्वियों तथा श्रावकों-श्राविकाओं को मरते वक्त भी समता की मुद्रा में देखा है। दो या तीन महीनों से एक समय अन्न लेना, फिर हफ़्तों बिना अन्न के मात्र फल-जूस पर रहना, कई दिनों तक निर्जल भी रहना, ऐसा साधना करते 70-80 वर्ष तक के लोगों को आनंद की मुद्रा में आत्मभक्ति करते देखा है। सबके प्रति दया, प्रेम और क्षमा की रेखाओं को उनके मुखमंडल पर पाया है। मुझे आश्चर्य है लोग कहते हैं ये मर रहे हैं। मुझे तो लगता है वास्तव में ये ही एक-एक क्षण जीवन का जी रहे हैं वो भी संयम, साधना और धर्मपूर्वक। उनके मुख पर मृत्यु भय की रेखा तक नहीं दिखाई देती।

कल्पना कीजिए! ये अगर खाने-पीने लग भी जाएँ, दुनिया के प्रपंचों में मन रमाएँ, प्रधानमंत्री पद तक की वांछा भी करें, तपस्या से वापस आकर छल-कपट के पुनः इतिहास रचने लग जाएँ तो क्या इनकी आयु और बढ़ जाएगी? क्या ये बीस-पच्चीस वर्ष और जी लेंगे? नहीं! इन्हें पता है–

धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं॥
सीलेण वि मरिदव्वं णिस्सीलेण वि अवस्स मरिदव्वं।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि सीलत्तणेण मरिदव्वं॥

(मूलाचार 2/64'65)

अर्थात् जो धैर्य तथा शील वाला है वह भी मरेगा, जो ऐसा नहीं है वह भी मरेगा फिर क्यों न धैर्य और शील (सद्चरित्र) के साथ ही मरा जाए। सल्लेखना एक संप्रदायातीत, भाषातीत, देशातीत निर्विवादित प्रक्रिया है। संत विनोबा भावे ने यही समाधिमरण स्वीकारा था। हम इसे ही मृत्यु-विजय कहते हैं और मृत्यु को एक महोत्सव बना देते हैं। सैद्धांतिक रूप से जिनागम में जिस सल्लेखना या मृत्यु-महोत्सव की चर्चा है वह किसी भी रूप में आधुनिक इच्छामृत्यु, दयामृत्यु या आत्महत्या की तरह नहीं है। जैन धर्म की दृष्टि से इच्छामृत्यु, दयामृत्यु या आत्महत्या महाहिंसा है तथा इससे बड़ा पाप और कोई नहीं है। आचार्य शिवार्य द्वारा विरचित भगवती आराधना नामक प्राकृत ग्रंथ में सल्लेखना का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

▢▢

जीना हो तो पूरा जीना,
मरना हो तो पूरा मरना।
बहुत कठिन है इस जीवन में,
आधा जीना आधा मरना॥

—आचार्य महाप्रज्ञ

18 जैन योग की समृद्ध परंपरा

योग भारत की विश्व को प्रमुख देन है। यूनेस्को ने 2 अक्टूबर को अहिंसा दिवस घोषित करने के बाद 21 जून को विश्व योग दिवस की घोषणा करके भारत के शाश्वत जीवन मूल्यों को अंतर्राष्ट्रीय रूप से स्वीकार किया है। इन दोनों ही दिवसों का भारत की प्राचीनतम जैन संस्कृति और दर्शन से बहुत गहरा संबंध है। श्रमण जैन संस्कृति का मूल आधार ही अहिंसा और योग ध्यान साधना है। इस अवसर पर यह जानना अत्यंत आवश्यक है कि जैन परंपरा में योग ध्यान की क्या परंपरा, मान्यता और दर्शन है?

जैन योग की प्राचीनता और आदि योगी

जैन योग का इतिहास बहुत प्राचीन है। प्रागैतिहासिक काल के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने जनता को सुखी होने के लिए योग करना सिखाया। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जिन योगी जिन की प्रतिमा प्राप्त हुई है, उनकी पहचान ऋषभदेव के रूप में की गई है। मुहरों पर कायोत्सर्ग मुद्रा में योगी का चित्र प्राप्त हुआ है। यह कायोत्सर्ग की मुद्रा जैन योग की प्रमुख विशेषता है। इतिहास गवाह है कि आज तक प्राचीन से प्राचीन और नई से नई जितनी भी जैन प्रतिमाएँ मिलती हैं वे योगी मुद्रा में ही मिलती हैं। या तो वे खड्गासन मुद्रा की हैं या फिर वे पद्मासन मुद्रा की हैं। खड्गासन में ही कायोत्सर्ग मुद्रा उसका एक विशिष्ट रूप है। नासाग्र दृष्टि और शुक्ल ध्यान की अंतिम अवस्था का साक्षात् रूप इन प्रतिमाओं में देखने को सहज ही मिलती है। इन परम योगी वीतरागी सौम्य मुद्रा के दर्शन कर प्रत्येक जीव परम शांति का अनुभव करता है और इसी प्रकार योगी बनकर आत्मानुभूति को प्राप्त करना चाहता है।

जैन योग की अवधारणा

अंतिम तीर्थंकर महावीर ने भी ऋषभदेव की योग साधना पद्धति को आगे बढ़ाते हुए सघन साधना की। उनका अनुकरण करते हुए उन्हीं के समान आज तक नग्न दिगंबर साधना करके लाखों योगी आचार्य और साधु हो गए जिन्होंने जैन योग साधना के द्वारा आत्मानुभूति को प्राप्त किया। जैन साधना पद्धति में योग और संवर एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं। प्रथम शताब्दी के आचार्य अध्यात्म योग विद्या के प्रतिष्ठापक आचार्य कुंदकुंद दक्षिण भारत के एक महान योगी थे। उन्होंने प्राकृत भाषा में एक सूत्र दिया ''आदा में संवरो जोगो'' अर्थात् यह आत्मा ही संवर है और योग है। जैन तत्व विद्या में जो संवर तत्व है, वह ही आज की योग शब्दावली का द्योतक है।

ध्यान की विशेषता

भगवान महावीर ने ध्यान के बारे में एक नई बात कही कि ध्यान सिर्फ़ सकारात्मक ही नहीं होता, वह नकारात्मक भी होता है। दरअसल आत्मा को जैन परंपरा ज्ञान दर्शन स्वभावी मानती है। ज्ञान आत्मा का आत्मभूत लक्षण है। किसी भी स्थिति में आत्मा और ज्ञान अलग नहीं होते और वह ज्ञान ही ध्यान है। चूँकि आत्मा ज्ञान के बिना नहीं; अतः वह ध्यान के बिना भी नहीं। पढ़कर आश्चर्य होगा कि कोई ध्यान मुद्रा में न बैठा हो तब भी ध्यान में रहता है। महावीर कहते हैं कि मनुष्य हर पल ध्यान में रहता है, ध्यान के बिना वह रह नहीं सकता। ध्यान दो प्रकार के हैं– नकारात्मक और सकारात्मक। आर्तध्यान और रौद्रध्यान नकारात्मक ध्यान हैं तथा धर्म ध्यान और शुक्लध्यान सकारात्मक ध्यान हैं। मनुष्य प्रायः नकारात्मक ध्यान में रहता है इसलिए दुःखी है। उसे यदि सच्चा सुख चाहिए तो उसे सकारात्मक ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। वह चाहे तो धर्म ध्यान से शुभ की तरफ़ आगे बढ़ सकता है और शुक्ल ध्यान को प्राप्त कर निर्विकल्प दशा को प्राप्त कर सकता है। इस विषय की गहरी चर्चा जैन शास्त्रों में मिलती है। वर्तमान में आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा प्रवर्तित प्रेक्षाध्यान एवं जैन योग देश में तथा विदेशों में काफ़ी लोकप्रिय हो रहा है।

जैन योग के विविध आयाम

भगवान महावीर ने योग विद्या के माध्यम से कई साधना के कई नए आयाम निर्मित किए; जैसे– भावना योग, अनुप्रेक्षा, अध्यात्म योग, आहार योग, प्रतिमा योग, त्रिगुप्ति योग, पंचसमिति योग, षड्आवश्यक योग, परिषह योग, तपोयोग, सामायिक योग, मंत्र योग, लेश्या ध्यान, शुभोपयोग, शुद्धोपयोग, सल्लेखना और समाधि योग आदि। एक साधारण गृहस्थ और मुनि की साधना पद्धति में भी भगवान ने भेद किए हैं। साधक जब घर में रहता है तो उसकी साधना अलग प्रकार की है और जब वह गृह त्यागकर संन्यास ले लेता है तब उसकी साधना अधिक कठोर हो जाती है। आज भी जैन मुनियों की साधना और दिनचर्या उल्लेखनीय है।

जैन योग साहित्य

शायद ही ऐसा कोई जैन आध्यात्मिक साहित्य हो जिसमें योग ध्यान का विषय न हो। जैन आचार्यों ने योग एवं ध्यान विषयक हज़ारों ग्रंथों का प्रणयन प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में किया है। उनमें प्रमुख रूप से आचार्य कुंदकुंद के अध्यात्म योग विषयक पंच परमागम, अष्टपाहुड, पूज्यपाद स्वामी का इष्टोपदेश, सर्वार्थसिद्धि, आचार्य गुणभद्र का आत्मानुशासन, आचार्य शुभचंद्र का ज्ञानार्णव, आचार्य हरिभद्र का योग बिंदु, योगदृष्टि समुच्चय आदि दर्जनों ग्रंथ आचार्य योगेंदुदेव की

अमृताशीति, जोगसारु आदि, आचार्य हेमचंद्र का योगदर्शन आदि प्रमुख हैं। आधुनिक युग में भी आचार्य विद्यासागर जी, आचार्य विद्यानंद जी, आचार्य तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ, आचार्य शिवमुनि, आचार्य हीरा, आचार्य देवेंद्र मुनि, आचार्य आत्माराम आदि अनेकों संतों द्वारा तथा अनेक जैन अध्येताओं द्वारा जैन ध्यान योग पर काफ़ी मात्र में शोधपूर्ण साहित्य का प्रकाशन हुआ है तथा निरंतर हो रहा है।

भारतीय योग विद्या को श्रमण संस्कृति का योगदान इतना अधिक है कि उसकी उपेक्षा करके भारतीय योग विद्या के प्राण को नहीं समझा जा सकता। अतः हमें पाठयक्रमों में योग को पढ़ाते समय श्रमण संस्कृति की योग विद्या से भी अवश्य अवगत करवाना चाहिए।

▢▢

जैन मुनि से लिए गाँधी जी ने तीन व्रत

"Becharji Swami was originally a Modh Bania, but had now become a **Jain monk**. He too was family adviser like Joshiji. He came to my help, and said : 'I shall get the boy solemnly to take the three vows, and then he can be allowed to go'. He administered the oath and **I vowed not to touch wine, woman and meat**. This done, my mother gave her permission."

–M. K. Gandhi
An autobiography
My experiments with truth
Pp.33

मत/अभिमत

1. ''इस कृति का घर-घर में स्वाध्याय होना चाहिए।''

–आचार्य आनंद सागर 'मौन प्रिय'

2. ''जैन धर्म के संबंध में जैनों के ही समानांतर जैनेतरों की भी जिज्ञासा सहज ही रहती है, जिसका पूर्ति के निमित्त प्रस्तुत कृति अतिशय उपादेय है। युवा लेखक ने समीक्ष्य पुस्तक में निष्कर्ष के रूप में सिद्ध किया है कि जैन धर्म स्वतंत्र व मौलिक धर्म है। इसकी अग्रवस्तु या मुख्य प्रतिपाद्य न तो कहीं से आयातित है, न ही पर प्रत्ययनीत है। पारदर्शी शैली में प्रणीत इस कृति से लेखक के गंभीर अध्ययन का विशद परिचय मिलता है।''

–कपूरचंद पाटनी, संपादक जैन गजट

3. ''आपने छोटी-सी ही पुस्तक में बहुत सारे तात्विक विषयों को सँजोने का प्रयास किया है।''

–डॉ० शुगनचंद, डायरेक्टर, *ISJS, नई दिल्ली/यू० एस० ए०*

4. ''पुस्तक की भूमिका एवं प्रथम अध्याय जैन धर्म की प्राचीनता से संबंधित भ्रांतियों को तोड़कर लोगों की आँखों को खोल देने में पूर्णतया समर्थ है।''

–डॉ० शुद्धात्म प्रकाश, *प्राचार्य, वसुंधरा महाविद्यालय, जयपुर*

5. ''जैन धर्म की विशेषताओं का पता चला। मन में कई प्रश्न रहते थे, उनका समाधान सहज ही हो गया।''

–डॉ० महेश त्रिपाठी, *प्राचार्य, वाराणसी*

6. ''ये किताब जैन मज़हब की खूबियों को बताती है।''

–मजहर अब्बास, *मजहर टैक्सटाइल्स, बनारस*

7. ''It is an excellent work. Your comparative study impressed me.''

–P.Jairajan, *International School, Bangluru. (By SMS)*

8. ''इतनी जानकारी हमें कभी नहीं मिली। यह पुस्तक पूरे परिवार ने पढ़ी।''

–नंदकिशोर अग्रवाल, *गीता साड़ीज, काशी*

9. ''यह पुस्तक छोटी ज़रूर है; पर एक अजनबी के लिए एक पूरी खुराक है।''

–डॉ० आनंदप्रकाश, कोलकाता

10. ''समाज में इस प्रकार की पुस्तक प्रथम बार उपलब्ध हो रही है। इस पुस्तक से जैन धर्म से अतिरिक्त धर्मावलंबी भी जैन धर्म के सिद्धांतों से अवगत होकर अपने जीवन को सुखमय बना सकते हैं।''

–डॉ० शीतला प्रसाद शुक्ला,

पुराण विभाग, लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

11. ''नई पीढ़ी के लिए पुस्तक उपयोगी है।''

–डॉ० अमित, *MS, ग्वालियर*

12. ''यह पुस्तक हर घर में होनी चाहिए।''

—डॉ० महेंद्र, हेमेंद्र, *विदिशा (म० प्र०)*

13. ''अपने आलेखों पर जैनेतर पाठकों से प्राप्त सकारात्मक प्रतिक्रिया से प्रोत्साहित होकर विद्वान युवा लेखक ने प्रस्तुत पुस्तक का प्रणयन किया है। यह जैन एवं जैनेतर सभी पाठकों को जैन धर्म का परिचय कराने में सहायक होगी।''

—श्री रामाकांत, संपादक शोधादर्श *(जुलाई 07 में प्रकाशित)*

14. ''यह यद्यपि एक लघु कृति है, किंतु गागर में सागर को चरितार्थ करती है।''

—आचार्य राजकुमार इटारसी

15. ''आपने काफ़ी परिश्रम से यह पुस्तक लिखी है, 'धन्यवाद'।''

—शांतिलाल बैनाड़ा, आगरा

16. ''प्रस्तुत कृति जैन धर्म के प्रारंभिक ज्ञान हेतु अत्यंत उपयोगी है। कोई अजैन बंधु भी इसका अध्ययन कर जैन धर्म का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसमें सरल भाषा-शैली में और वह भी अत्यंत संक्षेप में जैन धर्म के अनेकानेक विषयों को इस तरह समझा दिया गया है, मानों गागर में सागर भर दिया हो। यह कृति जैन धर्म के विषय में पाठक को और अधिक जिज्ञासु बना देती है– यही इसकी सफलता है।''

—डॉ० वीरसागर जैन, अध्यक्ष-जैनदर्शन विभाग

श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

17. ''आपके द्वारा लिखी पुस्तक पढ़ी... नाम की सार्थकता है तथा आप जिन शासन की शान इसी तरह बढ़ाते रहें।''

—सज्जनराज मेहता, बंगलुरु *(ई-मेल द्वारा)*

लेखक परिचय

डॉ० अनेकांत कुमार जैन

पिता– प्रो० (डॉ०) फूलचंद जैन प्रेमी

माता– श्रीमती (डॉ०) मुन्नीपुष्पा जैन

शिक्षा– एम०ए० (जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्मदर्शन), जैनदर्शनाचार्य, बौद्धदर्शनाचार्य (लब्ध स्वर्णपदक), पी-एच०डी०, NET/JRF

प्रकाशन

1. दस ग्रंथों का लेखन और संपादन
2. लगभग 70 शोधपत्र, राष्ट्रीय/अंतर्राष्ट्रीय शोध-पत्रिकाओं में हिंदी, संस्कृत तथा अंग्रेज़ी भाषा में प्रकाशित।
3. विभिन्न राष्ट्रीय समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं में धर्म-संस्कृति तथा समसामयिक विषयों पर शताधिक लेख, कविताएँ और कहानियाँ प्रकाशित।
4. प्राकृत भाषा की प्रथम पत्रिको 'पागद-भासा' के मुख्य संपादक तथा अनेक पत्र-पत्रिकाओं के संपादक मंडल के सदस्य।

पुरस्कार/उपाधियाँ/सम्मान

1. महर्षि वादरायण व्यास युवा राष्ट्रपति पुरस्कार, 2. महावीर पुरस्कार, 3. शास्त्रिपरिषद पुरस्कार, 4. विद्वत्परिषद पुरस्कार, 5. कुंदकुंद ज्ञानपीठ पुरस्कार, 6. अर्हत्वचन पुरस्कार, 7.जैन सिद्धांत भास्कर, 8.युवा वाचस्पति आदि।

अन्य योगदान

1. देश/विदेश में लगभग पचास राष्ट्रीय/अंतर्राष्ट्रीय सेमिनारों में शोधपत्र प्रस्तुत।
2. सभा संचालन/प्रखर वक्ता/दूरदर्शन केंद्र वार्ता/स्क्रिप्ट लेखन/काव्य-कहानी लेखन।
3. जैन ध्यान योग के प्रशिक्षक तथा तनाव प्रबंधन आदि कार्यशालाओं के विशेषज्ञ।
4. जापान तथा ताइवान में विदेश मंत्रालय द्वारा आयोजित सर्वधर्म अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भारत से जैन धर्म का प्रतिनिधित्व।

संप्रति– अध्यक्ष-जैनदर्शन, श्रीलालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ (मानव संसाधन विकास मंत्रालयाधीन मानित विश्वविद्यालय), कुतुबसांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली-110016

संपर्क सूत्र– जिन फाउंडेशन, A93/7A, नंदा हास्पिटल के पीछे, छत्तरपुर एक्सटेंशन, नई दिल्ली-110074, दूरभाष– 9711397716, ई-मेल-anekant76@gmail.com